

लोकोत्तर साधक

पं. निहालचन्द्र जैन

सच है यदि सूरि शान्तिसागर संयम का रूप नहीं धरते ।
जो अपनी काया से युग का, कायाकल्प नहीं करते ॥
मानवता मान नहीं पाती, यदि जीवित मंत्र नहीं होते ।
वह भारत गारत बन जाता, यदि ऐसे सन्त नहीं होते ॥

प्रकाशक
धर्मोदय साहित्य प्रकाशन
सागर (म.प्र.)

- कृति : लोकोत्तर साधक
- कृतिकार : पं. निहालचन्द्र जैन
- संस्करण : चतुर्थ, जनवरी 2012
- ISBN : 978-81-909449-7-7
- आवृत्ति : 2200
- मूल्य : 20/-
- प्राप्ति स्थान : धर्मोदय साहित्य प्रकाशन
बाहुबली कॉलोनी, सागर (म.प्र.)
मो. नं. 094249-51771
dharmodayat@gmail.com
- मुद्रक : विकास आफसेट, भोपाल

अनुक्रम

• महाश्रमण दिगम्बराचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज	8
• प्रस्तावना : सृजन इतिहास	10
1. चींटियों द्वारा उपसर्ग	12
2. विष और अमृत का मिलन	15
3. एकीभाव स्तोत्र से जीवन रक्षा	18
4. भीमशा की अटूट भक्ति	20
5. करुणा : मानसरोवर के हंस	23
6. कर्मबंध के रहस्य से कर्मक्षय	26
7. उष्ण दुग्ध का परिषह	29
8. जब क्षमा जीवन्त हो उठी	31
9. तृषा परिषहजय	33
10. सिंह का समर्पण नृसिंह को	35
11. अभय का मेरु	38
12. सम्यक्त्व की सम्पदा : अनासक्ति	41
13. सम्यक्त्व की अपूर्व धारा	44
14. जैनमंत्र का अचिन्त्य प्रभाव	47
15. मकोड़े का उपसर्ग : नेमण्णा का वैराग्य	49

16. समत्व की साधना	51
17. गंधोदक की अपूर्व महिमा	54
18. महाव्रती का नमस्कार : आत्मविश्वास की मुस्कान	57
19. मनुष्य भव का मूल्य	60
20. रुद्रप्पा की समाधि	63
21. बन्ध और मुक्ति	66
22. प्रेरणा के पावस	70
23. हिन्दु भक्त का अनुराग	74
24. तप की तेजस्विता	76
25. वानरों पर प्रभाव	79
26. संघपति की दानशीलता	81
27. आचार्यश्री का अप्रतिम प्रभाव	84
28. भविष्यदृष्टा आचार्यश्री	87
29. ललितपुर में आचार्य वर्षायोग	89
30. शंका के सागर में समाधान के मोती	91
31. लोकोत्तर मानस्विता	94
32. वृत्ति परिसंख्यान तप	97
33. दिव्यदृष्टि	100
34. भीष्म प्रतिज्ञा	102
35. संवेदनशील संत का श्रेष्ठ विवेक	106
36. मूकं करोति वाचालं	108

37.	मुनि पायसागर के जीवन शिल्पी	110
38.	अमर बन गया मरण, छूकर चरण तुम्हारे	113
39.	अपूर्व दयालुता	117
40.	वाणी बने वीणा	119
41.	व्रत : जीवन का स्वर्ण कलश	121
42.	काँटे से काँटा निकालें	123
43.	अहिंसा की शौर्यता	125
44.	भक्ति का अतिरेक	127
45.	तीर्थ वन्दना और त्याग	129
46.	उपवास : मोह का विमोचन	131
47.	संयम की श्रेष्ठता	133
48.	आचार्य वीरसागर की सृष्टि कथा	136
49.	दिव्य देशना के अमृत कण	138
परिशिष्ट		
1.	उग्र तपस्वी की उपवास साधना	142
2.	अन्तिम अमर संदेश	142
3.	लोकोत्तर साधक शब्दकोश	151

महाश्रमण दिगम्बराचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज

दिगम्बर श्रमण परम्परा में वर्तमान युग में अनेक तपस्वी, ज्ञानी ध्यानी श्रमण हुए। उनमें आचार्य शान्तिसागरजी महाराज एक ऐसे प्रमुख श्रमण श्रेष्ठ तपस्वी रत्न हुए हैं, जिनकी अगाध विद्वत्ता, कठोर तपश्चर्या, प्रगाढ़ धर्म श्रद्धा, आदर्श चरित्र और अनुपम त्याग ने धर्म की यथार्थ ज्योति प्रज्वलित की। आपने लुप्तप्राय, शिथिलाचार ग्रस्त मुनि परम्परा का पुनरुद्धार कर उसे जीवन्त किया, यह निर्ग्रन्थ श्रमण परम्परा आपकी ही कृपा से अनवरत रूप से अद्यावधि प्रवाहमान है।

दक्षिण भारत के प्रसिद्ध नगर बेलगाँव जिले चिकोडी तालुका (तहसील) में भोजग्राम है। भोजग्राम के समीप लगभग चार मील की दूरी पर विद्यमान येलगुल गाँव में नाना के घर आषाढ़ कृष्णा 6, विक्रम संवत् 1929 सन् 1872 बुधवार की रात्रि में शुभ लक्षणों से युक्त बालक सातगौड़ा का जन्म हुआ था।

मुनियों के प्रति उनकी अटूट भक्ति थी। वे अपने कन्धे पर बैठकर मुनिराज को दूधगंगा तथा वेदगंगा नदियों के संगम के पार ले जाते थे। वे कपड़े की दुकान पर बैठते थे तो ग्राहक के आने पर उसी से कहते थे कि - कपड़ा लेना है तो मन से चुन लो, अपने हाथ से नाप कर फाड़ लो और बही में लिख दो। इस प्रकार उनकी निस्पृहता थी। आप कभी भी अपने खेतों में से पक्षियों को नहीं भगाते थे। बल्कि खेतों के पास पीने का पानी रखकर स्वयं पीठ करके बैठ जाते थे। फिर भी आपके खेतों में सबसे अधिक धान्य होता था। वे कुटुम्ब के झंझटों में नहीं पड़ते थे। उन्होंने माता-पिता की खूब सेवा की और उनका समाधि-मरण कराया।

माता-पिता के स्वर्गस्थ होते ही आप गृह विरत हो गये एवं मुनि

श्री देवप्पा स्वामी से 43 वर्ष की आयु में कर्नाटक के उत्तूर ग्राम में ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी सन् 1915 को क्षुल्लक के व्रत अंगीकार किये। आपका नाम शान्तिसागर रखा गया। क्षुल्लक अवस्था में आपको कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा था क्योंकि तब मुनिचर्या शिथिलताओं से परिपूर्ण थी। साधु आहार के लिए उपाध्याय द्वारा पूर्व निश्चित गृह में, मार्ग में एक चादर लपेट कर जाते थे, आहार के समय उस वस्त्र को अलग कर देते थे। आहार के समय घण्टा बजता रहता जिससे कोई विघ्न न आए।

महाराज ने इस प्रक्रिया को नहीं अपनाया और आगम की आज्ञानुसार चर्या पर निकलना प्रारम्भ किया।

इस प्रकार लगभग 3-4 वर्षों तक क्षुल्लक, ऐलक पद का निर्वाह करते हुए सन् 1919 यरनाल पंचकल्याणक महोत्सव के अवसर पर आपने मुनि देवेन्द्रकीर्ति जी से मुनि दीक्षा अंगीकार की। सन् 1924 समडोली वर्षायोग के दौरान चतुर्विध संघ द्वारा आपको आचार्य पर से अलंकृत किया गया।

जीवन पर्यन्त मुनिचर्या का निर्दोष पालन करते हुए 84 वर्ष की आयु में दृष्टि मंद होने के कारण सल्लेखना की भावना से आचार्य श्री सिद्धक्षेत्र कुंथलगिरीजी पहुँचे। वहाँ पर उन्होंने 13 जून को विशाल धर्म सभा के मध्य सल्लेखना धारण करने के विचारों को अभिव्यक्त किया।

18 सितम्बर, 1955 को प्रातः 6:50 ॐ सिद्धोऽहं का ध्यान करते हुए युगप्रवर्तक आचार्य श्री शान्तिसागर जी ने नश्वर देह का त्याग कर दिया। संयम-पथ पर कदम रखते ही आपके जीवन में अनेक उपसर्ग आये जिन्हें समता पूर्वक सहन करते हुए आपने शान्तिसागर नाम को सार्थक किया।

प्रस्तावना : सृजन इतिहास

हमारी भारत भूमि पर चारित्र चक्रवर्ती की संज्ञा से अभिभूषित उन्नीसवीं शताब्दी में निर्ग्रन्थ दिगम्बर श्रमण परम्परा को पुनर्जीवित करने वाले आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज एक ऐसे ही लोकोत्तर पुरुष हुए, जिन्होंने अपनी नर देह से ऐसी अकल्पनीय तप साधना की जिससे लोगों को यह विश्वास करने के लिये विवश होना पड़ा कि इस ससीम देह से संकल्प की असीम लोकोत्तर साधना भी की जा सकती है।

आचार्य गुरुणांगुरु श्री शान्तिसागरजी के दिव्य संस्मरणों का यह समुच्चय-लोकोत्तर साधक के सृजन का इतिहास इस अप्रतिम भावना के अंकुर का पल्लवन है कि इस नश्वर देह से ऐसी अविनश्वर वीतरागी साधना कलशारोहण सम्भव है। सम्पूर्ण चिन्मयता के प्रांगण में अपनी इन्द्रियों को इतना विवेकपूर्ण नियंत्रण और स्वात्मानुशासन का इतना शिखर कीर्तिमान भी हासिल किया जा सकता है कि हिमालय की उत्तुंगता भी शरमा जाये।

इस कृति का महानायक अपनी प्राञ्जल तप साधना के अमृतोपम रस से जीवन का अभिषेक करने वाले इस दिगम्बर जैनाचार्य ने दुर्लभ होती मुनि मुद्रा को पुनः स्थापित कर दक्षिण भारत से उत्तर भारत तक ससंघ पग-पग विहार कर धर्म के दिव्य फल का रसास्वादन भारत भू की सम्पूर्ण जैन समाज/ जन-मानस को कराया। वर्तमान में जो आचार्य परम्परा का निर्ग्रन्थ रूप सादृश्य है वह इन्हीं आचार्य की महान् अनुकम्पा का फल है।

चारित्र चक्रवर्ती ग्रन्थ का मैं स्वाध्याय कर रहा था, उसी समय (जुलाई 1998, भाग्योदय, सागर) पूज्य मुनि श्री निर्वेगसागर महाराज का पत्र मिला कि मैंने नैतिक आचरण पढ़ी। अच्छी लगी; मेरी भावना है कि ऐसी शैली में चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज के

कुछ विशिष्ट संस्मरण सुबोध/नवीन शैली में लिखें, जो कथात्मक परन्तु संक्षिप्त हो।

अस्तु मुनिश्री के दर्शनार्थ 19 अगस्त, 1998 को भाग्योदय सागर पहुँचा। पूज्य आचार्यश्री के दर्शन/आशीर्वाद लेकर मुनि श्री निर्वेगसागरजी से मिला/नमोऽस्तु के पश्चात् चर्चा की। मुनिश्री ने लगभग 25 शीर्षकों के अन्तर्गत घटनाओं के लिखने की पृष्ठभूमि बतायी। इस प्रकार कृति के सृजन में मूल प्रेरणा मुनि श्री निर्वेगसागरजी महाराज की रही, जिन्होंने आचार्य शान्तिसागरजी महाराज की सल्लेखना/समाधिमरण के पावन प्रसंगों को संजोकर कृति (1998 में महाप्रयाण) का प्रकाशन कराया।

आचार्य शान्तिसागरजी के कालजयी व्यक्तित्व को शब्दों में बाँध पाना बहुत कठिन है। अक्षर असमर्थ हैं, उनकी लोकोत्तर साधना को मुखर कर पाने में, फिर भी बालक जल में दिख रहे चन्द्रबिम्ब को पकड़ने की कोशिश करता है। मेरा एक ऐसा ही अकिंचन प्रयास है। इस प्रयास को पूज्य मुनि श्री क्षमासागरजी महाराज का भी आशीर्वाद प्राप्त हुआ, जिन्होंने इस कृति की पाण्डुलिपि को आद्योपान्त पढ़कर शब्द को सही जगह दी।

चारित्र चक्रवर्ती के पारस गुणों का संस्पर्श पाठकों को छू भर जाये तो लेखक का श्रम सार्थक होगा।

प्रस्तुत कृति 'लोकोत्तर साधक' लोकोत्तर साधना का परिवर्द्धित एवं संशोधित रूप है। इसमें 49 शीर्षकों को समावेशित किया गया है। इस कृति को प्रकाशित करने में धर्मोदय साहित्य प्रकाशन, सागर के संचालक ब्र. भरत भैया का आभारी हूँ, जिन्होंने चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज के लोकोत्तर व्यक्तित्व को सर्वव्यापी बनाने की हार्दिक भावना को साकार किया है।

पं. निहालचन्द जैन

1.

चींटियों द्वारा उपसर्ग

- उपसर्ग : संघर्ष में हर्ष और प्रतिकूलता में समता का अनुभव करते हुए साधुजन इसे 'कर्म-निर्जरा' का मांगलिक सोपान मानते हैं।
- उपसर्ग : ऊषा काल की पूर्व अंधियारी है, जिसके बाद सूर्य-रश्मियाँ, जीवन के उजाले का अभिनव आमन्त्रण लाती हैं।
- उपसर्ग : एक कसौटी है यह परखने की, कि इन्द्रियाँ और मन हमारी कितनी आज्ञानुवर्ती हैं।
- उपसर्ग : जीवन के परिष्कार का एक फौलादी संकल्प है, जिससे अप्रत्याशित रूप से आई विपत्ति में धैर्य धारण किए रहें।
- महाव्रती दिगम्बर श्रमण, आचार्यगण, उपसर्ग को धर्म्यध्यान की परीक्षा घड़ी मानकर उसे अपनी क्षमता, समता और शमता पूर्वक सहन कर सहिष्णु बनते हैं।
- उपसर्ग : सहिष्णुता का सतत निर्झर है।

एक दिन आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज निद्रा विजय तप का पालन करने का सुविचार लेकर एक जंगल में स्थित मंदिर के भीतर एकान्त स्थान में ध्यानस्थ हो गये।

शाम का वक्त मंदिर का पुजारी - दीपक में तेल डालते समय कुछ तेल उसके आसपास भी बिखर गया। तेल की गंध से चींटियों की

कतारें आना प्रारम्भ हो गई। थोड़े ही समय में असंख्य चींटियों का समुदाय वहाँ एकत्रित हो गया। वे धीरे-धीरे आचार्य श्री के शरीर पर रेंगने लगीं।

रेंगते हुए उन्होंने शरीर के अधोभाग, नितम्ब आदि को काटना प्रारम्भ कर दिया और कुछ समय के बाद आचार्य श्री के अधोभाग से खून रिसने लगा। चींटियों की दंश-वेदना कितनी असह्य होती है? चींटियाँ देह के कोमल गुप्तांग को रात भर काटती रहीं, लेकिन आचार्य श्री उस असहनीय पीड़ा को अविचल ध्यानारूढ़ होकर समतापूर्वक सहन करते रहे। शायद उन क्षणों में वे नरकों की वेदना को स्मरण में लाकर सोचने लगे होंगे कि उस वेदना से यह बड़ी नहीं है। भेदविज्ञान के परमभाव से परिपूर्ण आचार्यश्री इस परिषह को रात-भर सहन करते रहे।

देह से विदेह की अर्न्तयात्रा के लिए जिनके स्वानुभूति के दिव्य चरण बढ़ने को होते हैं, वे रोम-रोम में निर्ममत्व बनकर सिद्ध भगवान् की अचिन्त्य शक्ति का ध्यान करते रहे।

वह निर्ग्रन्थ आचार्य इस महान् साधना में ऐसे निरत रहा जैसे सांख्य दर्शन का कमल पत्र की भाँति निर्लिप्त-पुरुष, प्रकृति की लीला देख रहा हो।

उपसर्ग की इस अंधियारी रात्रि में पुजारी को स्वप्न दिखा और वह सिहर कर उठ भी जाता है, लेकिन अपने दूसरे साथी के आलस्य और जंगल में रात्रि में शेर के भय के कारण, दोनों सुबह होने की प्रतीक्षा में पुनः सो जाते हैं।

एक ओर छोटी-छोटी असंख्य चींटियों का यह घोर उपद्रव

चलता रहा और दूसरी ओर वह शरीरधारी मुनि अपनी तपस्या को परिषह की अग्नि में और परिष्कृत करता रहा। प्रातःकाल के उजाले में जनसमूह वहाँ एकत्रित होकर जब यह दृश्य देखता है तो जन-जन की संवेदनाएं रो उठती हैं। अश्रुधारा बहाने और पश्चाताप करने के सिवाय उनके पास और क्या बचा था ?

दूसरी जगह शक्कर डालकर चींटियों के अलग होने की प्रतीक्षा की जाने लगी। प्रतीक्षा की वह घड़ी कितनी लम्बी रही होगी और संतप्त-हृदयों ने उस करुणामयी दृश्य का साक्षात्कार कर योगीराज के परम निर्विकार भाव को सभी लोग देख रहे थे। वेदना पर विजय और तप की तेजस्विता की यह अप्रतिम घटना थी।

एकत्व और पृथक्त्व भावना से अनुभावित आचार्य श्री की 'चारित्र चक्रवर्ती' की संज्ञा सार्थक प्रतीत हो रही थी।

जितेन्द्रिय की दृष्टि भौतिक शरीर के सम्मोहन से हटकर ज्ञान शरीर पर टिक जाती है। आत्मा की/समयसार की रहस्य पर्ते एक-एक कर खुलने लगती हैं।

अज्ञानी देह में रुचि रखता है और ज्ञानी अपनी आत्मा की शक्ति का चिन्तन करता हुआ देह से निर्ममत्व होने की साधना करता है।

धन्य है आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज की यह विलक्षण तप साधना और परिषह-जय की अकथ-कथा।

वेदना को सहन करने की यह कठोर संकल्प भावना चारित्र की वह आकाशी ऊँचाई है, जहाँ वैभव की समस्त नापें क्षुद्र दिखने लगती हैं।



2.

विष और अमृत का मिलन

- हिंसा विष है। अहिंसा अमृत है।
- क्रूरता कालकूट विष से ज्यादा संघातक है और करुणा से अभिषिक्त हृदय अमृत है।
- जीवों के प्रति दया-भावना अमृत है और क्रोधाविष्ट लाल-लाल आँखें विष का उद्गार हैं।
- प्रतिशोध विष है। क्षमा अमृत है।
- प्रेम करुणा और अहिंसा की सलिल (फुहार) विष रूपी अंगारों को शान्त कर देती है, उन्हें बुझा देती है।
- अहिंसा अपराजेय है। हिंसा-पराभव और पराजय की पर्याय है।
- अहिंसा के सजल नम्रीभूत बादल, हिंसा से संतप्त-धरा को शीतलता प्रदान करती है।
- जो शाश्वत है वह अमृत है। विष तो मरणधर्मा होता है।

चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागरजी क्षमा और धैर्य के अक्षतपुंज थे। उनके श्री मुखमण्डल से एक तेजस्वी आभा दैदीप्यमान होती रहती थी।

जंगल में एक गुफा में वे ध्यानस्थ थे। अचानक एक सात-आठ हाथ लम्बा-विषधर फण उठाये आचार्यश्री के आगे खड़ा हो गया। उसके शरीर पर बाल उगे हुए थे तथा ताम्र-लाल रंग की दो आँखें चमक

रही थीं। उसकी लपलपाती जीभ मानो विष के अंगारे उगलने को उद्यत थी। आचार्य श्री निर्निमेष दृष्टि से उसे देख रहे थे और वह आचार्यश्री को आग्नेयदृष्टि से देख रहा था। आचार्यश्री की अभय मुद्रा में अनुकम्पा/अहिंसा की अमिय भावना विराजमान थी।

सर्पराज वात्सल्य की करुणा मूर्ति को निहार रहा था और शान्ति के सागर उस यमराज को एक आगन्तुक दर्शनार्थी की भाँति धर्मवृद्धि का आशीर्वाद दे रहे थे। अद्भुत दृश्य था अमृत और विष के मिलन का।

स्व. पण्डितवर्य सुमेरुचन्द्रजी दिवाकर को आचार्यश्री ने यह घटना सुनाई तो सुनने वाले रोमांचित हो गए।

पण्डितजी ने प्रश्न किया कि मृत्यु से साक्षात्कार के उन क्षणों में आप क्या सोच रहे थे?

महाराजश्री ने जो उत्तर दिया वह उनकी कर्मसिद्धान्त पर गहरी आस्था का प्रतीक था। उन्होंने कहा –“यदि मैंने इस जीव का पूर्व में कभी कोई बिगाड़ किया होगा, तो वह भी हमें बाधा पहुँचायेगा, अन्यथा वह चुपचाप चला जायेगा।”

आचार्यश्री की शान्त/सौम्य/अभय मुद्रा का ऐसा विलक्षण प्रभाव उस तिर्यञ्च सर्पराज पर पड़ा कि अपना फण नीचा करके मानो उनके चरणों में नतमस्तक होकर धीरे-धीरे गुफा के बाहर चला गया।

शब्दों की अपेक्षा मन की भाषा ज्यादा प्रभावशील होती है। हम जो दूसरों पर फेंकते हैं, वही लौटकर हमारे पास आ जाता है।

अहिंसा की आँखें – विष में अमृत के दर्शन कर लेती हैं।

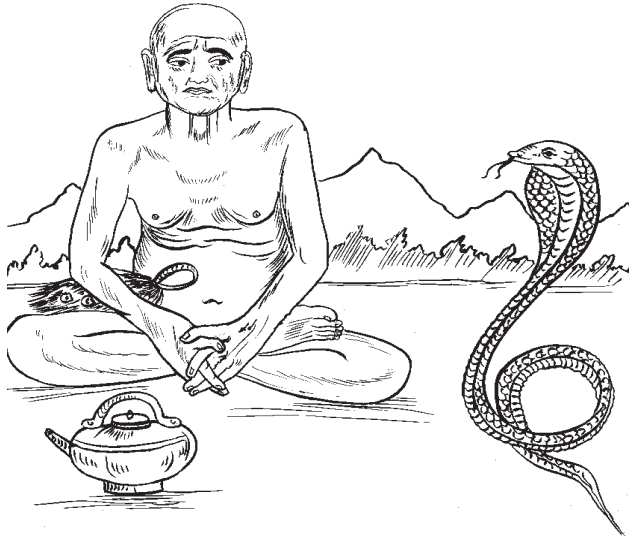
अनुकम्पा का उद्रेक हृदय से आँखों के द्वार तक आता है और

शत्रु को मित्रता का संदेश देकर उसे अपना बना लेता है।

प्रेम की सजल आँखें क्रोध को शान्त कर देती हैं। अभय की भाषा भयंकर विषधर को भी शान्त कर देती है।

आचार्यश्री के अन्तस्तल में सभी जीवों के प्रति एक मैत्रीत्व का भाव रहता था। मैत्री का सहज स्वाभाविक भाव-करुणा का दीपदान बनकर रोशनी के चिराग बनते हैं।

आचार्यश्री की अनुकम्पा का वरदहस्त न केवल उनके प्रशंसक चाहने वालों पर ही होता था, वे तो प्राणीमात्र के प्रति इस भावना से भरे होते थे। यही उनकी संतत्व की परिभाषा थी।



3.

एकीभाव स्तोत्र से जीवन रक्षा

आचार्य श्री शान्तिसागरजी अनेक सिद्धियों के स्वामी थे। परन्तु वीतरागी श्रमणों के लिए सिद्धियाँ निष्प्रयोजनीय होती हैं। हाँ, कभी-कभार वे अपने अनन्य भक्तों के लिए किञ्चित् प्रशस्त अनुराग से अभिभूत होकर, उनके जीवन रक्षार्थ, उपयोग कर लिया करते हैं।

ब्रह्मचारी जी के मस्तक पर कुष्ठ रोग का सफेद चिह्न दिखाई दिया, जो धीरे-धीरे उनके मस्तक पर बढ़ने लगा। इस दुश्चिन्ता में वे इतने व्यथित हुए कि एक बार उन्होंने आत्महत्या का विचार भी कर लिया, लेकिन यह सद्विचार आड़े आ गया कि संक्लेश रूप जघन्य परिणामों से मरण को प्राप्त होने पर न जाने किस योनि में जाकर कष्ट भोगना पड़ेगा? उन्हें बाहर लोगों के सामने जाने में लज्जा और संकोच होने लगा।

कुष्ठ रोग के प्रति लोगों की धारणायें आज से 50 वर्ष पूर्व अच्छी नहीं थीं। इसका सम्बन्ध वे हीनाचरण से जोड़ लेते थे। आचरणवान ब्रह्मचारी जी की यही मनोव्यथा थी।

होनाहरता ने ब्रह्मचारी जी के मन में यह दृढ़भाव उत्पन्न किया कि क्यों न आचार्यश्री के समक्ष अपनी मनोव्यथा प्रकट कर दूँ? दुःख को कह देने से उसका दबाव कम हो जाता है।

एक विश्वास के साथ सजल नेत्रों से वे कहने लगे -

“ भगवन्! मैं अपने पापोदय के कर्म विपाक को झेल पाने में असमर्थ हूँ और आत्मघात के खोटे विचार से भर गया हूँ। अस्तु समाधान की आशा में आपके चरण सान्निध्य में आया हूँ।”

संत का आशीर्वाद मुखर हुआ—“घबराओ मत। तुम्हारा रोग शीघ्र ही दूर हो जावेगा। दिन में तीन बार एकीभाव स्तोत्र का शुद्धतापूर्वक पाठ प्रारम्भ करो।”

जैसे जीवन का मूलमन्त्र हाथ लग गया हो। ब्रह्मचारी जी ने पूरी एकाग्रता से एकीभाव स्तोत्र का पाठ लगभग चार सप्ताह किया, कि वह रोग स्वतः शान्त हो गया। लेकिन मस्तक में एक छोटा सफेद दाग फिर भी शेष रह गया। ब्रह्मचारी जी ने कहा – महाराज श्री! यह दाग अभी बाकी है।

परमपूज्य आचार्य श्री गुरुवर का मंगल आशीष से उठा हुआ हाथ उनके मस्तक को स्पर्श करते ही वह सफेद दाग भी न जाने कहाँ गायब हो गया? धन्य है आचार्यश्री का यह जादुई संस्पर्श और अनोखी सिद्धि का तत्क्षण प्रभाव।

गुरु का आशीर्वाद तत्काल फलदायी बनता है। गुरु प्रसाद की इस अमृतोपम उपलब्धि ने ब्रह्मचारी जी को आत्मघात के जघन्य कृत्य से उबार लिया।

संत का जीवन, धर्म और धर्मात्मा के परोपकार के लिए हुआ करता है।

संत के आशीष में सिद्धि सोपान समाहित होता है, जो अनुकम्पा के लिए अनुप्राणित रहता है।

•

4.

भीमशा की अटूट भक्ति

- अपने आराध्य के प्रति अनन्य समर्पण; भक्ति है।
- भक्त के हृदय की श्रद्धा, भगवान् को हृदय में विराजमान कर लेती है।
- भक्ति में तर्क का उपालम्भ नहीं होता।
- भक्ति में स्वयं को खोकर भगवत्ता को पा लेने की अदम्य भावना/ अभिलाषा आ जाती है।
- भक्ति में अहंकार अनुपस्थित हो जाता है और शेष रह जाता है केवल आराध्य का गुणानुवाद।
- भक्ति की गंगा – विनय की गंगोत्री से प्रकट होती है।
- भक्ति सहेतुक होती है। उससे भेद-विज्ञान का द्वार खुलता है।

आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज कोगनोली में विराजमान थे। चातुर्मास का समय निकट था। समीपवर्ती गाँववासी पूज्य आचार्य श्री की चरणरज से अपनी गाँव की माटी को चन्दन बना लेना चाहते थे। भला कौन ग्रामवासी पूरे चार माह तक अपने आराध्य गुरु की सेवा का सौभाग्य लेना न चाहता था ?

प्रार्थना का श्रीफल गुरु के चरणों में भेंट होता रहा। आचार्य श्री को बस अंतिम निर्णय लेना था। सभी की आँखें आचार्यश्री के आदेश पर टिकी थीं। ग्राम नसलापुर के श्रावकजन भी आये हुए थे और

आचार्यश्री की सेवा सुश्रुषा तथा वैय्यावृत्ति के परम सौभाग्य से वे वंचित नहीं होना चाहते थे।

नसलापुर के उन्हीं भक्तगणों में भीमशा मकदूम नामक व्यक्ति था। वह एक ओर भक्ति की शक्ति से भरा था तो दूसरी ओर शरीर सौष्ठव और शारीरिक शक्ति भी गजब की थी। आचार्यश्री के दर्शन से इतना अभिभूत हुआ कि उसने ऐसी महान् आत्मा को अपने गाँव में ले जाने की ठान ली।

आचार्यश्री गाँव के बाहर एक गुफा में ध्यानस्थ थे।

ब्रह्म मुहूर्त की बेला थी और महाराजश्री सामायिक में बैठे ही थे कि भीमशा अपने साथियों के साथ वहाँ आया। दर्शन करते समय न जाने कौन-सा विचार उसके मस्तिष्क में कौंध गया कि महाराजश्री इस समय न तो बोलेंगे और न ही किसी प्रकार का प्रतिरोध करेंगे। उसने भक्ति के साथ शारीरिक शक्ति का उपयोग किया।

भीमशा ने महाराजश्री को आसन सहित उठाकर अपने बलिष्ठ कंधों पर विराजमान कर शीघ्र ही नसलापुर की ओर प्रयाण कर दिया। सूर्योदय होते-होते लगभग बारह किलो मीटर यमगरणी ग्राम पहुँच गया।

प्रभात किरणों के साथ आचार्यश्री का मौन टूटा और उन्होंने भीमशा से कहा-“अरे बाबा! अब तो हमें नीचे उतरने दो।” भीमशा की उत्कट भक्ति और साहस की पराकाष्ठा देखकर महाराजश्री हँस पड़े। उनकी मुस्कान के साथ भीमशा की सारी थकान छूमन्तर हो गई।

इधर कोगनोली की गुफा में महाराज को न पाकर गाँव के श्रावक जन चिन्तित हो उठे और खोजते हुए उस स्थान पर पहुँचे जहाँ वे

विराजमान थे।

लोगों ने वहाँ अपने गाँव में चातुर्मास हेतु प्रार्थना की जो महाराज हँसते हुए भीमशा की ओर इशारा करते हुए बोले- भीमशा बैठा है। इसकी भक्ति यहाँ तक ले आई। और नसलापुर में चातुर्मास की स्थापना का निश्चय हो गया।

भक्ति में शक्ति का अतिरेक स्थापित हो जाता है। भक्ति की बलवती भावना-व्यक्ति में अतिरिक्त शक्ति का संचार कर देती है।

यह भक्ति-श्रद्धा का जीवन्त प्रभाव कि बाल-आबाल वृद्धजन श्री सम्पेदेशिखरजी की 27 किलोमीटर की यात्रा हँसते-हँसते कर लेते हैं।

संकल्प शक्ति भक्ति के साथ जुड़कर द्विगुणित हो जाती है। व्यक्ति की भक्ति में शक्ति विराजमान है, यह रहस्य उक्त घटना उद्घाटित करती है।

भक्ति से भगवान् द्रवित हो जाते हैं फिर संत की करुणा, भक्ति की आँच से विगलित हुए बिना कैसे रह सकती है ?

जीवन को बदलने में श्रद्धा-भक्ति का सक्रिय तत्त्व काम करता है। श्रद्धा नहीं तो ज्ञान भार है, आचरण पाखण्ड है।

श्रद्धा नहीं तो क्रान्ति का सूत्रपात नहीं हो सकता।

भीमशा की भक्ति ने आचार्यश्री को विवश कर दिया। निःस्वार्थ भक्ति, फलाशा रहित भक्ति में - अचिन्त्य प्रभाव समाहित रहता है।



5.

करुणा : मानसरोवर के हंस

- महान् संत की जीवन पुस्तक का प्रथम पृष्ठ करुणा के अक्षरों से लिखा होता है।
- संत, करुणा रूप मानसरोवर के हंस होते हैं।
- 'धम्मो दया विशुद्धो' दया से रहित धर्म जड़ रहित वृक्ष के समान है।
- धर्म का प्रवेश द्वार दया-करुणा है, उसमें प्रवेश हुए बिना सम्यक्त्व का अभिषेक नहीं हो सकता।
- करुणा के दीपदान से आत्मवत् सर्वभूतेषु का निर्मल प्रकाश निकलता है।
- करुणा/दया संतात्माओं की श्वांसें होती हैं। उनके हृदय की धड़कन होती है। संवेदना के स्वरों से उनका जीवन संगीत अनुनादित होता रहता है।
- वे आत्मभूमि पर करुणा का बीज बोकर धर्म का कल्पवृक्ष उगाते हैं। जिसके फल से सृष्टि संरक्षित रहती है।
- करुणा और दया शरणाभूत हो जाती है आचार्यश्री के पास आकर। अनेक घटनाएँ उनके करुणाशील व्यक्तित्व को मुखरित करती हैं।

प्रस्तुत घटना आचार्य श्री के गृहस्थ जीवन से जुड़ी है।

जब शौच हेतु वे अपने खेत की ओर गए। उन्होंने देखा कि

उनका नौकर, ज्वार का गट्टा बाँधकर चोरी से ले जा रहा है। वे पीठ करके चुपचाप बैठ गए। महाराजश्री ने उस समय विचार किया 'बुभुक्षितं किं न करोति पापं' गरीबी से अभिशप्त भूखा व्यक्ति यदि पेट के लिए अनाज ले जा रहा है, तो ले जाने दो। निर्धनता की सहानुभूति से उनका हृदय पिघल गया। उसके प्रति अनदेखा भाव करके उससे कुछ नहीं कहा।

इस घटना ने नौकर को इतना प्रभावित किया कि वह पीछे से महाराजश्री के घर आकर क्षमा माँगते हुए कहने लगा - "अण्णा! मैं खेत से ज्वार ले जा रहा था, महाराज ने देख भी लिया लेकिन कुछ नहीं कहा। मैं इस कृत्य के लिए बहुत लज्जित हूँ।"

अपने अधीन के प्रति दया का भाव होना चाहिए।

एक दूसरी घटना है। बारामती में आचार्यश्री का वर्षायोग 1951 में सम्पन्न हो रहा था। महाराजश्री सामायिक में थे।

चिड़िया का एक बच्चा, मकान के ऊपरी भाग में बने घोंसले से नीचे आ गया। उसके पंख भी विकसित नहीं हो पाए थे, जिससे वह उड़ नहीं पा रहा था। माँ के बिछोह में वह इधर-उधर फुदक रहा था।

सामायिक से उठकर महाराजश्री को उसकी रक्षा का भाव आया अन्यथा कौआ उसे चोंच में दबाकर ले जा सकता था। उन्होंने कर्मचारी को अपने पास बुलाया और चर्चा करने लगे। पण्डित सुमेरुचन्द्र जी दिवाकर उसी समय शास्त्र पढ़ने आचार्यश्री के पास आ गए। आचार्यश्री कर्मचारी से बात कर रहे थे। चिड़िया के बच्चे के रक्षार्थ उन्होंने भावना व्यक्त की।

एक नसैनी मंगाई और बच्चे को यथावत् उसके घोंसले में

रखवा दिया गया। पुनः नीचे न गिर जावे, इसलिए आड़ का पटिया भी लगवा दिया। थोड़ी देर बाद बच्चे की माँ आ जाती है और उसे उठाकर ले गई। यह देखकर महाराजश्री ने आत्म सन्तोष की सांस ली और बोले उस बच्चे की माँ आ गई, अब उसके जीवन की चिन्ता नहीं रही। संत की करुणा में कितनी गहराई होती है?

पक्षी की माँ के बिछोह से वे स्वयं विचलित हो गए। जो अपने तप में इतने कठोर हो जाते हैं, वे दया भाव में फूल से भी ज्यादा कोमल।

“दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।”

सही है धर्म की वर्णमाला दया से प्रारम्भ होती है, दया धार्मिकता का सही पैमाना है।



6.

कर्मबंध के रहस्य से कर्मक्षय

- आचार्यश्री ने एक जीवन सूत्र दिया—“कर्मबंध के रहस्य को जानकर व्यक्ति कर्मक्षय कर सकता है।” उन्होंने कहा – पहले समयसार नहीं, महाबंध और महाधवल जैसे सिद्धान्त ग्रन्थों का स्वाध्याय करना चाहिए।
- हम दुःख में क्यों पड़े हैं? सुख चाहने पर भी मिलता क्यों नहीं? सही तो यह है कि सुख और दुःख कर्माधीन हैं। जैसा कर्म बांधते हैं, उसके विपाक के समय वही प्राप्त होता है।
- व्यक्ति जो बोता है वही काटता है। जैसा कर्मबीज बोते हैं, सुख/दुःख की फसल उसी कर्म के विपाक का फल होता है।

आचार्यश्री ने एक बोध कथा कही –

एक राज पुरोहित ने अपने पुत्र को अर्थकारी विद्यार्जन न कराकर केवल यह शिक्षा दी थी कि अमुक कार्य करने से अमुक कर्म का बंध होता है। विप्र पुत्र सांसारिक चतुरता नहीं सीख पाया। उसे केवल बंध शास्त्रों का ज्ञाता बनाया।

राज पुरोहित के स्वर्गस्थ हो जाने के पश्चात् आर्थिक विपन्नता से वह जूझने लगा। जीविकोपार्जन का साधन उसके पास था नहीं। अस्तु चोरी करने के लिए विवश हो गया।

वह राजा के खजाने में चोरी करने के लिए घुसा। उसने रत्नों

का हार चुराने के लिए हाथ उठाया। परन्तु उसी समय उसे स्मरण आया कि रत्नों की चोरी से इस प्रकार का बंध होता है, अस्तु उसने हार वहीं रख दिया। इसी प्रकार वह सोने और चाँदी की अनेक वस्तुओं को उठाता, परन्तु कर्मबंध का विचार कर वहीं वापस रख देता। परेशान है कि जिस मूल्यवान वस्तु उठाने-चुराने वह हाथ बढ़ाता, कर्म का बंध का ज्ञान उसके हाथों को पीछे खींच लेता है।

निराश हो लौटते हुए, उसने एक जगह भूसा का ढेर लगा देखा। भूसा चुराने का क्या दोष होता है ? उसके पिताश्री ने नहीं बताया था। भोला विप्र पुत्र भूसा का गट्टा बाँधकर साथ ले जाने लगा। राजा के सिपाहियों ने उसे पकड़ लिया।

राजा को जब यह ज्ञात हुआ कि राजपुरोहित का पुत्र है तो राजा ने बुलाकर पूछा कि तुमने भूसा की चोरी करना क्यों पसंद किया?

विप्र पुत्र कहने लगा कि - राजन्! मेरे पिताजी ने केवल बंध शास्त्र का अध्ययन कराया था। मैंने राजकोष के हीरे और स्वर्णाभूषण चुराने का दुःसाहस किया लेकिन उनके चुराने का बड़ा दोष लगता है अस्तु वहीं छोड़कर ज्योंही बाहर आया, देखा कि भूसे का ढेर लगा है जिसे लेने में ज्यादा दोष नहीं लगता अतः मैंने उठा लिया।

राजा ने विप्र पुत्र को पाप भीरू और सत्यनिष्ठ समझकर उसे राज्य में ऐसे पद पर रख लिया जिसमें उसे कष्ट न हो और उसकी जीविका आसानी से चल सके।

बंध का ज्ञान होने पर आदमी पाप से बच जाता है। बंध का रहस्य मोक्ष के द्वार खोलता है और उसे कर्म-निर्जरा की ओर प्रेरित करता है।

बंधन को स्वभाव न समझे, वेदना समझें।

संसार भी बंधन है, परन्तु इससे मुक्ति इसलिए नहीं हो पा रही है कि इसे हमने स्वभाव स्वीकार कर लिया है।

जिस दिन संसार के बंधन से हमारा अनुभव प्रभावित होगा, उसी दिन से मुक्ति का मंगलाचरण प्रारम्भ हो जायेगा।

संसार को कारागृह मानें, तभी मुक्ति की छटपटाहट होगी। संसार को कोमल शय्या से सुसज्जित अस्पताल मानें।

जहाँ परिचारिकाएँ सेवा के लिए खड़ी हैं, परन्तु कोई समझदार क्या वहाँ निवास बनाने की सोचता है। रोग शय्या से वह स्वस्थ होकर बाहर जाने के लिए प्रतीक्षारत है। इस भावदशा से संसार को स्वीकृति देंगे तो मुक्ति का सोपान आपके पास है।

बंधन की स्वीकृति यदि व्यक्ति को किसी अंधकूप से निकालकर उसी जगत् पर ला सके तो बंधन थोड़ी देर के लिए स्वीकार कर लेना चाहिए, क्योंकि उसकी स्वीकृति में कूप से मुक्ति की पृष्ठभूमि जुड़ी होती है। बंधन के रहस्य से मुक्ति की पहचान करें।



7.

उष्ण दुग्ध का परीषह

- मुनि आचार्य के लिए परिषहजय एक तप है।
- परिषह अग्नि है, जिसमें 'जीवन-कुन्दन' तप कर निखरता है।
- मुनि की चर्या में क्षुधा और तृषा परिषह को जीतने का मूलाराधना में श्रमण संविधान कहा है। परिषहजय से कर्म निर्जरा होती है। जो अंतरंग के कालुष्य को धोकर निरभ्र आकाश की भाँति अन्तःकरण को स्वच्छ कर देता है।
- 'मार्गाच्यवन निर्जरार्थ परिषोढव्याः परिषहाः ॥'(तत्त्वार्थसूत्र 9/8) आचार्य उमास्वामी का उक्त सूत्र, परिषहों को स्वेच्छा से सहने का हेतु बताता है। अप्रत्याशित रूप से आये उपसर्ग को सहने के लिए यह पूर्वाभ्यास है।
- विपत्ति, कष्ट के क्षणों में मन को स्थिर/संयमित रखने के लिए परिषहजय की साधना, राज-मार्ग है।

आचार्यश्री एक बार आहार-चर्या के लिए निकले।

एक श्रावक के द्वार पर योग्य आहार विधि मिल गई और महाराजश्री का भोजनशाला में भी प्रवेश हो गया। सिद्धभक्ति की और त्रिशुद्धि बोलने के पश्चात् महाराजश्री ने अंजुलि बाँधी और आहार लेने के लिए तैयार हो गए। उस समय महाराजश्री गरम दूध और चावल का आहार ही लिया करते थे।

श्रावक के पास उबलता हुआ दूध पतीली में रखा था। कभी-

कभी अशुभ कर्मोदय के कारण अज्ञानता अविवेक को जन्म देती है। "विनाशकाले विपरीत बुद्धि" की कहावत चरितार्थ हुई। उस श्रावक ने गरम दूध के बर्तन को कपड़े से पकड़ा और हड़बड़ी में वह अति उष्ण दूध आचार्यश्री की बंधी अंजुलि में डाल दिया। उसने विवेक का जरा भी इस्तेमाल नहीं किया कि जिस बर्तन को वह कपड़े से पकड़े है, उसका उबलता दूध अंजुलि में कैसे डालें?

दूध के अंजुलि में गिरते ही उष्णता की असह्य पीड़ा से महाराजश्री मूर्च्छित से होकर जमीन पर बैठ गये।

पूज्य नेमिसागर महाराज उस समय गृहस्थावस्था में नेमण्णा श्रावक के रूप में वहाँ उपस्थित थे। आचार्यश्री को संज्ञाहीन देखकर सभी लोग घबरा गये। नेमण्णाजी उनके जीवन का अंतिम समय समझकर णमोकार महामन्त्र कानों में जोर-जोर से सुनाने लगे।

कुछ समय पश्चात् जब महाराजश्री की मूर्च्छा दूर हुई और उन्होंने आँखें खोलीं, तब लोगों की जान में जान आयी।

आहार का अन्तराय तो हो ही चुका था।

महाराजजी के मुखमण्डल पर क्रोध की रेखा तक नहीं थी। क्षमाभाव पूर्वक शान्त मन से उठे और इस परिषह को ऐसे सहन कर गए जैसे कुछ क्षण पहले कुछ हुआ ही न हो।

चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागरजी कितने समता परिणामी थे। योगी अपने में ही दोष देखता है, भोगी दूसरे पर दोषारोपण करता है। ये सूक्तियाँ कितनी प्रासंगिक हैं।

पामर कहता है - "सब पापी हैं। भोगी कहता है, तुम पापी हो।"

योगी कहता है - "मैं पापी हूँ, साधक कहता है - कोई पापी नहीं है।"

8.

जब क्षमा जीवन्त हो उठी

- पुरुष वह होता है जो बाहरी सारे सम्बन्धों को छोड़ पाता है।
- चाहे मन का दरवाजा हो या मकान का। भीतर आने वाली प्रत्येक वस्तु या विचार को पकड़ लेना पुरुष की परिभाषा नहीं है। क्रोध विभाव है। क्रोध अस्थायी पागलपन है।
- क्षमा उस विक्षिप्तता को परास्त करने का पुरुषार्थ है।

आचार्यश्री के साथ ग्राम कोगनोली में एक अप्रत्याशित घटना घटित हुई। कोगनोली आचार्यश्री की प्रारम्भिक तपस्थली है। जहाँ उन्होंने रसों को त्यागकर पूर्ण दिगम्बर मुद्रा में रहकर आहार विहार शुरू किया, क्योंकि इससे पूर्व के मुनि केवल आहार लेते समय दिगम्बर मुद्रा ग्रहण कर लिया करते थे।

कोगनोली गाँव के बाहर निर्जन स्थान में बनी गुफाओं में वे रात्रि व्यतीत कर आत्मलीन हो जाया करते थे।

एक बार नगर का एक पागल जंगल में पहुँच गया। उसके हाथों में एक लकड़ी थी, जिसके अग्रभाग में नोंकदार लोहे की वस्तु लगी थी। उससे बैलों को कौंचने का काम लिया जाता था।

उस पागल ने महाराजश्री के पास जाकर रोटी माँगी। ऐ बाबा! जोर की भूख लगी है, रोटी दो। लेकिन बाबा के पास क्या था? वे मौन पूर्वक आत्मलीन रहे। महाराज को शान्त देख पागल उत्तेजित हो उठा और उसने लकड़ी से महाराजजी को मारना शुरू कर दिया। शरीर के

अनेक भागों में लोहे की नोंक से घाव हो गए। जहाँ से खून बहने लगा। महाराजजी के हाथ लकड़ी के प्रहार से सूज गए। ऐसी विकट परिस्थिति में उसे रोकने वाला वहाँ कोई नहीं था।

पागल उपद्रव किये जा रहा था। फिर न जाने उसकी बुद्धि में क्या आया कि वह गुफा से बाहर हो गया।

सबेरा हुआ। दर्शनार्थी आये उन्होंने आचार्यश्री के शरीर पर अनेक जगह नीले निशान देखे और घावों से खून बहता हुआ भी। परन्तु वे महान् तपस्वी धन्य हैं, जो ऐसी परिस्थितियों में भी विचलित नहीं होते हैं।

बिजली की भाँति यह घटना गाँव में फैल गई और श्रावक जनों की भीड़ आचार्यश्री के पास उपस्थित हो गई। बहुत पूछने पर भी आचार्यश्री शान्त भाव से मौन रहे।

बहुत अनुनय विनय के पश्चात् कोगनोली बस्ती में लाया गया, जहाँ उपचार और वैद्यावृत्ति से उन्हें स्वास्थ्य लाभ मिल पाया।

संकट की घड़ियों में क्षमा और धैर्य की परीक्षा होती है। मारने वाले के प्रति कोई प्रतिशोध नहीं। क्षमा जीवन्त हो उठी आचार्य श्री इस विलक्षण तप साधना के आगे। धन्य है मुनि श्री की इस अनंत करुणा के समुन्दर की गहराई को जिसने, दुःख के शूल चुभाने वाले को करुणा का प्रतिदान दिया।

जो क्रोध संवेग से निःशेष हो जाते हैं, क्षमा उनकी अक्षय सम्पदा बन जाती है। क्रोधी को उसके विकृत परिणाम दण्ड देते हैं। सुना गया कि बाद में उस पागल ने अपने एक कुटुम्बीजन की हत्या की जिससे उसे प्राणदण्ड की सजा न्यायालय द्वारा सुनाई गई।

•

9.

तृषा परिषहजय

- अन्न से ज्यादा जल महत्त्वपूर्ण होता है और जल से ज्यादा महत्त्वपूर्ण वायु होती है।
- बिना अन्नाहार के शरीर चल सकता है, परन्तु जल के बिना जीवन जीना बड़ा कठिन होता है।
- सर्वार्थसिद्धि में कहा है-“मुनिराज प्यास रूप अग्नि ज्वाला को धैर्यरूपी नवीन मृत्तिका के घट में भरे हुए शीतल सुवासपूर्ण समाधिरूप जल के द्वारा बुझाते हैं।”
- ज्ञानी-मुनि भयानक भूख और प्यास आदि की वेदना को शान्त भाव से सहन करते हैं। यह परिषहजय है। इससे कर्मों का संवर होता है। परिषहजय से उपशम भाव, साम्यभाव और तप होने से निर्जरा की भी वृद्धि होती है।

परिषह को पूर्व जन्म के पाप का फल तथा उपसर्ग को कर्ज मानकर इस पर जय पा लेने से मुनि इस कर्ज से मुक्त हो जाता है। वह व्याकुल परिणाम नहीं करता।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है -

रियभोयणं क भण्णइ जो उवसग्गं परीसहं तिव्वं ।

पाव फलं मे एदं मया वि जं संचितं पुव्वं ॥

एक बार आचार्यश्री आहार को निकले। एक श्रावक ने भक्तिपूर्वक आहार दिया लेकिन जल देना भूल गया।

दूसरे दिन भी आहार दाता आहारोपरान्त जल देना भूल गया। यद्यपि महाराजश्री ने कुछ समय तक जल के लिए प्रतीक्षा की, फिर बिना जल ग्रहण किए चुपचाप बैठ गए।

प्यास की वेदना को समतापूर्वक सहना महान् तपस्वी की ही साधना होती है। तीसरे दिन भी दातार की बुद्धि की बलिहारी कि वह जल देने की बात विस्मृत कर गया।

जलाभाव के कारण नवें दिन महाराजश्री छाती पर उष्णता के कारण फफोले पड़ गये। ऐसी परिस्थिति में भी वे गम्भीर बने रहे।

दसवें दिन अन्तराय कर्म का उदय मंद हुआ और दातार श्रावक ने महाराज को जल दिया। अन्य आहार लेने की योग्यता उनके शरीर में नहीं रह गई थी। अस्तु वे जल लेकर बैठ गये।

जिज्ञासु श्रावकों ने प्रश्न किया -“महाराज! आज आपने दूध तक ग्रहण नहीं किया। ऐसा क्यों?”

आचार्यश्री ने गम्भीर होकर कहा -“शरीर को आज केवल पानी की जरूरत थी और आप लोग दूध देने के इच्छुक थे।”

साधु का आहार भी एक तप है। कर्म निर्जरा का साधन है।

आचार्यश्री की यह अपूर्व तपस्या उनके महान् पुण्य का कारण बनती गई। कर्म के सुधरने में पुण्य महान् साधन बनता है।

भेदज्ञानी मुनि, आत्मा की चैतन्य शक्ति को शरीर से पृथक् अनुभव करता हुआ, शरीर पर आई बाधा से संक्लेशित नहीं होता।

वासना विषय के दास, शरीर सुख में आत्म सुख का भ्रम पाल कर जीते हैं। परन्तु जितेन्द्रिय वासना की वास से निकलकर आत्म सौरभ की सुवास में निवास करने लगते हैं।

10.

सिंह का समर्पण नृसिंह को

- वनराज और महाराज दोनों राजा हैं।
- आचार्य गुणभद्र ने मुनियों को –‘नृसिंह’ लिखा है।
- मुनि सिंह वृत्ति वाला होता है, उसे दैन्य स्वीकार नहीं। शौर्य और स्वाभिमान मुनि चर्या में समाहित होता है।
- मुनि, सिंह की भाँति अकेला चलता है।
- पशुपति सिंह जंगल में निर्भय विचरण करता है। संसार के बियावान जंगल में संसार के सम्मोहनों से अछूता होकर जैन संत निर्भय विहार करता है। दोनों में यह साम्य गुण है। लेकिन एक वैषम्य भी है। सिंह पर्याय की अपरिहार्यता है, उसका माँसाहारी होना। बिना हिंसा के उसका आहार नहीं बन पाता। लेकिन मुनि अहिंसा का अनुशीलक होता है। सिंह हिंसक है-क्रूर नहीं। पेट भरा हो तो शान्त-निर्विकार बैठा रहता है। हिंसक पर्याय उसकी नियति है।
- मुनि अहिंसा एवं करुणाशील होता है। उसके आभामण्डल से अहिंसा की तेजोमय अदृश्य रश्मियाँ उद्भूत होती रहती हैं। वे किरणें हिंसक जीव में भी शान्ति का सृजन करने में समर्थ हैं।

घटना है सिद्धक्षेत्र द्रोणगिरि की -

पूज्य आचार्यश्री संघ सहित वहाँ विराजमान थे। रात्रि में द्रोणगिरि की पर्वतमाला में स्थित मन्दिरों पर ध्यान करने वे चले जाया करते थे।

पर्वत पर रात्रि विश्राम और सुबह पर्वत से नीचे उतरकर दर्शनार्थियों को दर्शनलाभ दिया करते थे। यह दैनिक मुनि-चर्या का कार्यक्रम था।

प्रतिदिन महाराजश्री प्रातः 8 बजे नीचे आ जाया करते थे। एक दिन घण्टे डेढ़ घण्टे का विलम्ब हो गया लेकिन महाराजश्री पर्वत से नीचे नहीं उतरे। लोगों में व्याकुलता बढ़ रही थी। वैसे भी प्रतीक्षा की घड़ी लम्बी होती है।

शंका और आशंकाओं के बीच लोग व्याकुल थे कि आज आचार्यश्री नीचे क्यों नहीं आये? लोगों को पर्वत पर सिंह के विचरण का भी पता था। आखिर धैर्य टूटा और लोग पहाड़ पर गये। देखा महाराजश्री नीचे आ रहे हैं। एक जिज्ञासु श्रावक पूछ बैठा। स्वामिन्! आज इतना विलम्ब क्यों? महाराज-मौन थे। एक अन्य व्यक्ति ने कौतूहलवश आशंका व्यक्त की –“पर्वत पर कभी-कभी सिंह आ जाया करता है। कहीं ऐसा तो नहीं हुआ आचार्यश्री?”

आखिर महाराजश्री को मौन तोड़ना पड़ा - संध्या से ही एक सिंह पास में आ गया। वह रात भर बैठा रहा। थोड़ी देर पहले वह हमारे पास से उठकर चला गया।

लगता है वनपति - यतिपति के दर्शनार्थ आया था।

नृसिंह का यह सौजन्य सामीप्य सिंह के लिए सालोकपूर्ण बन गया। अहिंसक के चरणों में सिंह का समर्पण मैत्री का प्रतीक बन गया था। दोनों शौर्य तेजस्वियों का यह मिलन और उनका परस्पर मौन संवाद जो सारी रात चलता रहा। वस्तुतः एक राजा की दूसरे राजा से सौजन्य भेंट थी। एक श्रावक ने प्रश्न किया - महाराज श्री! क्या आपको उस हिंसक व्याघ्र से भय नहीं हुआ? आचार्यश्री की मुस्कान उत्तर दे गई।

ऐसी ही एक घटना मुक्तागिरी पर्वत पर भी घटित हुई थी। एक शेर प्रतिदिन पास के बहते झरने में पानी पीने आया करता था, आचार्यश्री ध्यानस्थ आत्मलीन रहते थे।

महाराजश्री ने श्रावक से कहा - किस बात का भय? यदि वह पूर्व का बैरी न हो और हमारी ओर से कोई बाधा या आक्रमण न हो तो वह क्यों आक्रमण करेगा?

अहिंसक अभय और मैत्री भावना से युक्त होता है। हिंसा के भाव उसके सामने उपशम हो जाते हैं।

संत के पास-पाप, ताप और दीनता का अभिशाप नहीं ठहर पाता। एक नीतिकार ने कहा है -

गंगा पापं शशी तापं दैन्यं कल्पतरुस्तथा।

पापं तापं च दैन्यं च हन्ति सन्तो महाशयाः ॥



11.

अभय का मेरु

- संत और मुनिजन, विपत्ति में चट्टान की तरह दृढ़ रहते हैं।
- सप्त भयों के कारणों का उनमें निर्मूलन हो जाने से वे अभय में जीते हैं। वस्तुतः वे अभय के मेरु होते हैं।

एक बार क्या अनेक बार आचार्य शान्तिसागरजी से यह पूछा कि महाराज श्री, आप हिंसक जीव-जन्तु, सर्प, सिंह आदि द्वारा उत्पन्न संकट के क्षणों में भय या घबराहट से विचलित नहीं होते जबकि साधारण जन ऐसे क्षणों में अशान्त और भय से कांपने लग जाते हैं।

आचार्यश्री का एक ही उत्तर हुआ करता था कि -“पूर्व का बैरी ही बाधा पहुँचायेगा, अन्यथा कोई बिगाड़ नहीं करेगा।” मेरी वर्तमान में सभी जीवों के प्रति क्षमा/अभय भाव रहता है, फिर भय किस बात का करें? घटना कोन्नूर (जिला बेलगाँव) के चतुर्थ चातुर्मास 1923 की है।

आचार्यश्री कोन्नूर की गुफा में सामायिक में ध्यानस्थ थे। झाड़ी से एक सर्प गुफा में प्रवेश कर गया। गुफा में इधर-उधर चक्कर लगाने के बाद जैसे ही बाहर निकलने के प्रवेश द्वार की ओर बढ़ा कि एक दर्शनार्थी के नारियल चढ़ाने की आवाज से वह पुनः भीतर हो गया।

अब वह महाराजश्री के निकट पहुँचा और उनके शरीर पर चढ़कर उन्हें बाधा पहुँचाने लगा। परन्तु विमल ज्योति स्वरूप उनके आत्म चिन्तन में सर्प उन्हें भय से भयभीत न कर सका। वे न केवल

शरीर से वरन् अपने भावों में मेरु की भाँति अचल बने रहे।

महाराजश्री उन क्षणों में चिन्तन करने लगे कि प्राकृतिक, दैवीय, मानवीय, तिर्यञ्च (पशु-पक्षी) कृत उपसर्ग, हमारे कर्मों के उदयानुसार ही व्यथा/बाधा पहुँचा सकता है। इनका मूल कारण है-मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय और ज्ञानावरणादि कर्म इनके विनाश करने का प्रयास हो।

समकालीन निर्ग्रन्थ तपस्वी श्री नेमिसागरजी जो 28 वर्ष तक आचार्यश्री के सान्निध्य में रहे उन्होंने कौन्नूर उपसर्ग की विचित्र घटना सुनाई थी।

कौन्नूर में छोटी बड़ी लगभग सात सौ गुफायें जंगल में हैं, जहाँ योगीजन ध्यानस्थ हो आत्म स्वरूप की चिन्मयता में डूब जाया करते होंगे। पहली शताब्दी से दक्षिण भारत में आचार्यों और मुनियों का सद्भाव वहाँ के पुण्य पावन भूमि के प्रभाव से बना रहा।

ऐसी एक गुफा में आचार्यश्री अष्टमी, चतुर्दशी के दिन ध्यानारूढ़ हो जाया करते थे। घटना के दिन उनका मौन व्रत भी था। एक उड़ने वाला सर्प महाराज के निकट पहुँचा और जंघाओं के बीच आकर छिप गया।

मध्याह्न का समय था। वह लगभग तीन घण्टे तक इस प्रकार उपद्रव करता रहा लेकिन आचार्यश्री ने अपनी स्थिर मुद्रा को भंग नहीं किया।

सर्प उनसे लिपट कर जैसे उनसे मैत्री और आत्मीयता प्रकट कर रहा हो। वह अपने विषदंश के स्वभाव को भूलकर उनके संस्पर्श से मानों कृत धन्य हो गया हो।

इसी प्रकार तीसरी घटना कोगनोली में सर्प-उपसर्ग की हुई।

नंदादीप अखण्ड दीपक की ज्योत देखने पण्डित मंदिर आया। वह आचार्य श्री के शरीर पर सर्पराज को लिपटे हुए देखकर जान छोड़कर भागा। लोगों की भीड़ एकत्रित हो गई। लोग बल प्रयोग द्वारा भी उसे भगा नहीं पा रहे थे, क्योंकि इससे सर्पदंश की भयानक स्थिति निर्मित हो सकती थी।

समय बीतता गया और सर्प शरीर से उतरकर धीरे-धीरे बाहर खिसक गया। उस समय आचार्य श्री की साधना कितनी विलक्षण रही होगी। मृत्यु भय से मुक्त साधक ही इतना निर्भय हो सकता है।



12.

सम्यक्त्व की सम्पदा : अनासक्ति

- निर्मल मन, सम्यक्त्व की भोर है।
- सम्यक्त्व की सम्पदा है - अनासक्ति।

एक बार आचार्यश्री ने प्रतीकात्मक प्रश्न पूछा था - क्या चूल्हें में आग जलने से तुम्हें कष्ट होता है? “नहीं महाराज! इसमें कष्ट की क्या बात है, चूल्हा हमसे पृथक् है।”

आचार्यश्री ने कहा -“इसी भाँति, शरीर से आत्मा को चूल्हे की भाँति पृथक् मानें।”

जैसे मेहमान, हमारे घर आकर अनपेक्ष भाव से रहता है और घर की सारी वस्तुओं का उपभोग करता हुआ वह उन्हें अपना नहीं मानता, ऐसी “मेहमानी अनासक्त दृष्टि” हम अपने शरीर के प्रति रखें।

मोही - गीला नारियल है। अनासक्त - सूखा नारियल है।

शरीर में रोग उत्पन्न हो जायें तो शमन का उपाय करें, लेकिन शमन के लिए आत्मा का दमन न करें।

यह घटना आचार्यश्री के यम सल्लेखना होने के दो माह पूर्व की है। कुंथलगिरि आते समय एक श्रावक ने महाराजश्री की पीठ पर ‘दाद’ रोग फैलते हुए देखा। उसने विनय भाव से कहा -“महाराज श्री! आप इस दाद की दवाई क्यों नहीं करते?” महाराज मंद मुस्कान से बोले

-“बहुत दवाई लगाई परन्तु रोग, मेरा (शरीर का) पिण्ड नहीं छोड़ रहा है। बस एक दवाई करना शेष है, उसे लगावेंगे तो यह रोग नष्ट हो जावेगा तथा शरीर भी रोग मुक्त हो जावेगा।”

श्रावक ने प्रश्न किया -“लेकिन महाराजश्री! यह दवा अभी क्यों नहीं लगा रहे हैं? दवा का नाम बतायें, मैं लाने का प्रयास करूँगा।”

“अभी तू वह दवा नहीं जानता।” मैं उसे लगाकर दो माह में शरीर नीरोग बना दूँगा। गम्भीर होकर आचार्यश्री कहने लगे।

यह शरीर हमें बहुत दिनों से परेशान करने लगा है। पहले दाँतों ने अनबन की, वे चले गये, फिर एक आँख ने तकरार की उसकी ज्योति चली गई और दूसरे की ज्योति हमें छोड़ने को बैठी है।

जीवन में गुलामी स्वीकार नहीं की। दवा करते-करते थक गये। अब तो समाधिमरण धारण करके नया शरीर ग्रहण करेंगे। उस समय ही आचार्यश्री की वाणी में यम-सल्लेखना के भाव प्रकट हो गये थे। शरीर के प्रति अद्भुत अनासक्ति।

बुद्धि में यह सब जान लिया जाता है, लेकिन अनुभूति में, अन्तःकरण में सम्यक्त्व की ज्योति प्रकट नहीं हो पाती। अपनी अनुभूति को सम्यक्त्व की धारा से नहीं जोड़ पाते। अनासक्ति की भावदशा को, अपने चारित्र में समाहित नहीं कर पाते। हम शरीर के तल पर सारी जिन्दगी जीते हैं। शरीर के स्वास्थ्य की चिन्ता रहती है। आत्मा चाहे कितनी रुग्ण बनी रहे। जीवन में अनासक्ति हमें कर्मबंध से उबार सकती है।

शरीर के प्रति हमारी दृष्टि ऐसी ही अलिप्त हो, जैसे एक रोगी अस्पताल की रोग शय्या पर रहता है। वह परिचारिकाओं से बातें करता

है। उनसे मनोविनोद करता है, परन्तु वहाँ रहना नहीं चाहता। उसकी दृष्टि रोग से छुटकारा पाने की होती है। शीघ्र ही शरीर रोग से मुक्त हो, वह अस्पताल से मुक्त हो जाना चाहता है। अस्पताल को घर न माने। भले ही उसके विकास के लिए वह दान भी देता है परन्तु वह उसे अपना ठिकाना बनाने की स्वीकृति नहीं देता है।

शरीर के प्रति ऐसा भाव-बोध रखें। रत्नत्रय समलंकृत आत्मा की ओर अपनी निगाह रखें। हिय की आँखों से हीन व्यक्ति भले ही आँखों वाला हो परन्तु वह अंधा ही है, क्योंकि वह आत्मदर्शन से शून्य है। शरीर से अनासक्ति, हमें भोगों से अनासक्त बनाती है।

भेदविज्ञान से अनासक्ति को बल मिलता है। कमल जल में रहकर उसमें डूबा नहीं रहता, ऐसा ही जीवन में शरीर के प्रति भाव-भूमिका का निर्माण करना चाहिए।

यदि कमल जल में डूब जाये तो सड़ जायेगा और जल से पृथक् हो जाये तो सूख जायेगा। जल में रहकर उससे अलिप्त रहना, ऐसे ही 'जीवन-सरोज' को भवसागर एवं भोगसागर में अलिप्त भाव से रखने की साधना का विकास करना संत की मूल पहचान है।

•

13.

सम्यक्त्व की अपूर्व धारा

न सम्यक्त्व समं किञ्चित्, त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं, नाऽन्यतनूभृताम॥

(र.श्रा. 34)

- सम्यक्त्व की सम्पदा - अक्षय/अपूर्व होती है।
- अतीत, आगत और वर्तमान में इससे बढ़कर कोई वस्तु नहीं है।
- सम्यक्त्व से युक्त चाण्डाल भी देव है। जैसे कि भस्म से आच्छादित अंगार में भी तेज व प्रकाश रहता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व का धन है।
- सम्यक्त्व पाप का निरोध करती है, जबकि अन्य भौतिक सम्पदायें पाप कर्म को आहूत करती हैं। इस सम्यक्त्व से मुक्त व्यक्ति के लिए वैभव/ऐश्वर्य/यश/प्रतिष्ठा आदि से फिर कोई प्रयोजन नहीं रहता है।
- सब कुछ हो - पद/प्रतिष्ठा/पैसा लेकिन सम्यक्त्व की सम्पदा से कोई खाली हो तो उक्त चीजों से जीवन की इष्ट सिद्धि नहीं हो सकती और वह जीवन प्रयोजनभूत नहीं होता।
- सम्यक्त्व जीवन का श्रेयस है।
- मिथ्यात्व; अंधकार है, अश्रेयस्कर है, अकल्याणकारी है।
- जिनकी आत्मा निर्मल सम्यग्दर्शन से सम्पूरित है वे अव्रती होते

हुए भी दरिद्रता/निंद्यता/विकलांगता/अल्पायु और नरक तिर्यञ्च गति के दुःख भाजक नहीं बनते।

कर्नाटक प्रान्त में जैनवाडी में आचार्यश्री के चातुर्मास की स्थापना हुई। महाराजश्री ने अनुभव किया कि यहाँ के जैन बन्धु मिथ्यात्व में आकण्ठ डूबे हैं।

आचार्यश्री ने अपने सम्यक्त्व की अपूर्व प्रवचनधारा से वहाँ के लोगों के हृदय परिवर्तन कर दिये और लोगों ने गुरु की वाणी में अटूट श्रद्धा व्यक्त करते हुए भूल का प्रायश्चित्त किया और साथ ही मिथ्यात्व का परित्याग कर अपने घरों से कुदेवों की मूर्तियों को गाड़ी में भरकर नदी में विसर्जन कर दिया।

स्थानीय राजा, आचार्यश्री के महान् पवित्र चारित्र से इतने प्रभावित थे कि वे प्रायः दर्शनार्थ उनके सान्निध्य में जाया करते थे परन्तु उन्हें देव मूर्तियों को इस प्रकार नदी में विसर्जित करना अच्छा नहीं लगा।

एक दिन वे आचार्यश्री के पास पहुँचे और अपने मनोभाव व्यक्त कर दिये। आचार्यश्री ने बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से राजा को प्रतिबोधित किया।

उन्होंने कहा – राजन्! क्या आप भाद्रपद में गणपति की स्थापना करते हैं? उनकी पूजन भक्ति आरती भी करते हैं और दस दिन के उत्सव के बाद अनंत चतुर्दशी के पावन दिवस पर आप क्या करते हैं?

राजा का उत्तर था उन्हें किसी नदी/तालाब/ झील में स्वच्छ पानी में विसर्जित (सिरा) कर देते हैं।

महाराजश्री ने पूछा –“जिनकी आपने इतनी पूजा भक्ति की,

उन्हें जल में क्यों डुबा देते हैं?”

क्योंकि उनका पर्व काल समाप्त हो गया – राजा का उत्तर था।

फिर इसके बाद किसकी पूजन करते हो? वही भगवान् राम, हनुमान आदि की। ऐसे ही जैन गुरु के आ जाने के बाद, उनकी पूजा का काम पूरा हो गया और उनको सिरा देना ही हमारा पुण्य कर्म (कर्तव्य) बन जाता है। आप तीर्थंकर/अरिहंतों का पूजन करते हैं।

इस बात से राजा का संदेह दूर हो गया। आचार्यश्री ने एक नीति वाक्य द्वारा राजा को बोध दिया। **सम्यक्त्व रूपी सूर्य के उदय हो जाने पर तारों का अदृश्य हो जाना स्वाभाविक है।**

जब तक अंधेरा होता है- तारों के मद्धिम प्रकाश में क्या रास्ता दिखाई देता है? उसके लिए या तो चाँदनी की रजत रश्मियाँ चाहिए या फिर सूर्य का स्वर्णिम प्रकाश। तभी रास्ता स्पष्ट दिखाई देता है। सम्यक्त्व हमारे अन्तःकरण में सही श्रद्धा और आत्मविश्वास का आलोक भर देता है।

मिथ्यात्व अंधकार है। दिगम्बर मुनि/उपाध्याय या दिगम्बर आचार्य सम्यक्त्व की दिशा बताने वाले संत होते हैं, जो आत्मअन्वेषण की कुंजी हमारे कल्याणार्थ हमें भेंटते हैं।



14.

जैनमन्त्र का अचिन्त्य प्रभाव

- मिथ्यात्व का सर्प, जब हमारी आत्मा को डस लेता है तो माँ जिनवाणी रुचिकर नहीं लगती। जैसे सर्पदंश वाले व्यक्ति को नीम की पत्ती कड़वी महसूस नहीं होती।

जैनवाडी में एक ऐसा जैन भाई था, जो जैनेतर मन्त्रों से विष उतारने में निपुण था।

जब आचार्य शान्तिसागरजी द्वारा श्री जिनेन्द्रदेव के अलावा सरागी देवी-देवताओं के उपासना का निषेध किया गया तो यह समस्या उपस्थित हुई यदि उस अमुक मन्त्र वेत्ता द्वारा मिथ्यात्व/सरागी देवों के मन्त्रों से काम करने की मनाही कर दी गई तो सार्वजनिक हित और प्राणरक्षा का लोकोपकार रुक जायेगा।

पूज्य महाराजश्री ने इस समस्या पर गम्भीरता से विचार किया और उस जैन मांत्रिक को बुलाकर उसे यह विश्वास/श्रद्धान उत्पन्न कराया कि जैन मन्त्रों में भी अचिन्त्य सामर्थ्य होती है।

आचार्यश्री ने एक मन्त्र देकर उसका विधिपूर्वक प्रयोग बताया और कहा कि - यदि यह मन्त्र दो माह के भीतर कार्य न करे तो मिथ्यात्व का त्याग तुम्हारे लिए बंधनकारक नहीं होगा। लेकिन तुम्हें दो माह के लिए मिथ्यात्व का त्याग करना होगा। ठीक उसी समय एक व्यक्ति उस जैन बंधु के पास दौड़ता हुआ आया और प्रार्थना करने लगा

कि मेरे बैल को सर्प ने काट लिया, चलकर उसकी रक्षा करें। मन्त्र साधक पञ्चपरमेष्ठी का स्मरण करता हुआ वहाँ गया और आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त जैन मन्त्र का प्रयोग करते हुए बैल का विष झाड़ने लगा। मन्त्र साधक को बड़ा सुखद आश्चर्य हुआ कि बैल की विष बाधा तत्काल दूर हो गई। वह मन्त्र साधक पुनः महाराजश्री के पास आया और विनतभाव से कहने लगा - महाराज श्री! जैन मन्त्रों का अतिशय प्रभाव है। उस बैल का विष तत्क्षण दूर हो गया।

“मैं जीवन भर मिथ्यात्व के त्याग का नियम लेता हूँ।” द्वादशाङ्ग जिनवाणी में विद्यानुवाद नाम का दसवाँ पूर्व है। जिसमें मन्त्र विद्या का विशद वर्णन है। मन्त्र पारंगत हुए बिना श्रुतकेवली नहीं होते। श्रुतकेवली भद्रबाहु मन्त्र विद्या में पूर्ण निपुण थे। जैनधर्म मन्त्र विद्या का विरोध नहीं करता।

भरत चक्रवर्ती ने मन्त्र की आराधना द्वारा मागध देवों को वश में कर लिया था, ऐसा महापुराण पर्व 28 में वर्णित है।

अब मन्त्र विद्या की इस लोकोपकारी कला का क्षरण हो रहा है।

•

15.

मकोड़े का उपसर्ग : नेमण्णा का वैराग्य

आचार्य शान्तिसागरजी महाराज एक असाधारण लोकोत्तर महापुरुष थे, जिन्होंने दिगम्बर मुनिधर्म को पुनर्जीवित किया। उनकी कठोर तपस्या को देखकर जैन बन्धुओं में, जैनधर्म के प्रति अनन्य भक्ति और अटूट श्रद्धा उत्पन्न हो जाती थी। आचार्यश्री की तपस्या की विलक्षणता को देखकर संत आत्मायें वैराग्य धारण कर मुनि दीक्षा ले लेते थे। आचार्यश्री का जीवन ही अध्यात्म का पुनीत संदेश था। पञ्च महाव्रत उनके आचरण से मुखरित होते थे।

अप्रमाद और सतत् जागरूक, उनकी जीवन शैली का अविभाज्य अङ्ग बन चुकी थी। जब वे सामायिक में ध्यानस्थ होते तो शरीर से बेखबर हो जाया करते थे। इतनी एकाग्रता विरले संतों में देखी जाती है।

ऐसी एक घटना कोन्नूर के जंगल में महाराजश्री के साथ घटित हुई। वे धूप में पद्मासन में स्थित हो सामायिक में लीन थे। कहीं से एक बड़ा मकोड़ा उनके निकट आया और उनकी पुरुष इन्द्रिय से चिपटकर काटने लगा। वह मकोड़ा पुरुष इन्द्रिय से रक्तपान करने लगा, जिससे वहाँ रक्तस्राव होने लगा। लगभग महाराजश्री डेढ़ घण्टे तक अविचल ध्यानारूढ़ रहे और मकोड़ा द्वारा उत्पन्न पीड़ा से बेखबर वे आत्मलीन रहे। ब्र. बंडोवा बाबाजी ने निकट बैठे श्रावक नेमण्णा (जो पूज्य आचार्य श्री नेमिसागर के रूप में विश्रुत हुए) की ओर इशारा करते हुए कहा - देखिए नेमण्णा जी। यह रक्त बह रहा है। आचार्यश्री का ध्यान पूर्ण होने

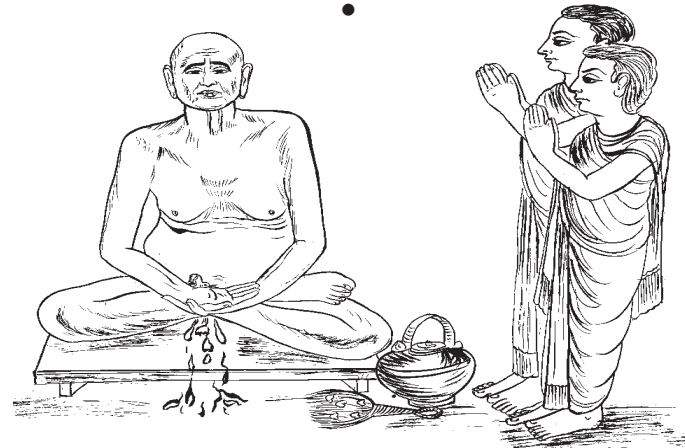
पर नेमण्णा ने उनसे कहा-यह क्या है महाराज श्री? रक्त का स्राव कहाँ से हो रहा है ?

महाराज श्री बोले-मैं तो सामायिक में बैठ गया। मुझे पता नहीं फिर क्या हुआ?

आचार्यश्री के शब्द सुनकर नेमण्णा को बड़ा वैराग्य उत्पन्न हुआ। उन्होंने कहा - क्या यह चमत्कार है? यह साधु है या कोई भगवान्? निश्चय ही यह एक महान् आत्मा है।

इस अद्भुत घटना ने नेमण्णा के मन में प्रबल वैराग्य भाव संचरित कर दिए। उन्हें तप की अनोखी शक्ति का साक्षात् दर्शन हो गया। उन्होंने पूज्य आचार्यश्री से मुनि दीक्षा लेने का संकल्प उसी समय ले लिया था।

आचार्यश्री ऐसे चमत्कारी बाबा के रूप में प्रसिद्ध हो गए जिनके दर्शन और आशीर्वाद से जन-जन के दुःख तिरोहित हो जाया करते थे।



16. समत्व की साधना

अरि मित्र महल, मसान, कंचन, काँच निन्दा थुतिकरन।

अर्धावतारन असि प्रहारन में सदा समता धरन ॥ छह. 6/6

- दिगम्बर मुनि, समत्व-साधना की पर्याय होते हैं। उनकी करुणा/प्रेम न केवल अपने भक्तगणों पर होती है, वरन तलवार से आक्रमण करने वालों पर भी वे अपनी अनुकम्पा का वर्षण करते हैं। विश्वबन्धुत्व की असीम भावना से वे अनुप्राणित रहते हैं। वे प्राण घातक पर भी दया/करुणा का भाव रखते हैं।
- विपत्ति/संकट के क्षणों में उनकी दृष्टि दूसरों पर दोषारोपण करने की नहीं होती वे स्वयं में उसका कारण ढूँढते हैं और समता पूर्वक सहन करने का पुरुषार्थ रचते हैं। वे अकम्प रहते हैं, क्योंकि उनकी कषायें शिथिल पड़ गई होती हैं।

घटना राजाखेड़ा (30 फरवरी, 1930) की है - आचार्य श्री शान्तिसागरजी ससंघ वहाँ पहुँच गये। राजाखेड़ा के श्रावकजनों के हर्ष का पारावार न रहा, क्योंकि प्रथम बार उन्होंने ऐसे दुर्लभ आत्मध्यानी दिगम्बर आचार्य के दर्शन किए थे। प्रवचन और धर्म प्रभावना के निमित्त मंदिर के पास एक विशाल सभामण्डप का निर्माण कर दिया गया था, जहाँ तीन दिन तक आचार्यश्री ने ससंघ संयम/धर्म का प्रसाद बाँटकर जैनधर्म की अतिशय प्रभावना की। इस प्रभावना से कुछ विधर्मी

पापी लोग ईर्ष्या से जल उठे। वे नग्नमुद्रा को हेयदृष्टि से देख रहे थे। उन्होंने गुप्त रूप से आचार्य संघ पर आक्रमण करने का षड्यंत्र रचा। षड्यंत्र की अदृश्य भाव तरंगों, आचार्यश्री को उद्वेलित कर गई और उन्होंने चौथे दिन राजाखेड़ा से अन्यत्र विहार करने की सोची, किन्तु इसी बीच बाहर से अनेक विद्वत्जन पधार चुके थे, जिन्होंने आचार्यश्री से रुकने की साग्रह प्रार्थना की, आचार्यश्री विद्वानों के प्रति अनुराग/वात्सल्य रखने से रुक गये। पाँचवे दिन की घटना कल्पनातीत हुई। चार-पाँच सौ उपद्रवकारियों का झुण्ड संगठित होकर मंदिर की ओर आ रहा था। संघ पर आक्रमण करने की खोटी भावना से कुछ लोगों के हाथों में तलवारें तथा अन्य हथियार थे। वे उस चबूतरे की ओर तीव्र गति से बढ़े आ रहे थे, जहाँ प्रतिदिन साधु संघ बैठकर सामायिक किया करते थे। परन्तु यह संयोग कहिए कि आचार्यश्री ने उस दिन आदेशित कर दिया था कि सामायिक भीतर बैठकर ही करें।

समता भावों से सामायिक की भूमिका का निर्माण होता है। साधु के गमनागमन से/आहारचर्या आदि में यदि जाने अनजाने जीवों की विराधना होती है तो क्षमाभाव धारणकर प्रतिक्रमण करते हैं।

आक्रमणकारियों ने देखा कि आज बाहर चबूतरे पर कोई साधुजन नहीं हैं, उनका साहस मंदिर के अंदर जाने का नहीं हो पाया और वे श्रावकों के घर की ओर बढ़ गये। उन आततायियों का मुखिया छिड़ी ब्राह्मण उनके साथ आगे बढ़ता हुआ विवेक और ज्ञान से शून्य बन गया था। उपद्रवकारियों ने कुछ श्रावकों पर हमला बोल दिया। श्रावकों को इस अप्रत्याशित घटना का अन्दाज लगाते देर नहीं लगी। उन्होंने देखा कि कुछ धर्म विद्वेषी लोग मुनिजनों पर आक्रमण करने के लिए आतुर अब हमारी ओर बढ़े चले आ रहे हैं। उन्होंने येन-केन प्रकारेण उसका

प्रतिरोध किया और शक्ति व साहस से मुकाबला किया।

सभी श्रावक अपने गुरुजनों मुनिवृन्दों की रक्षा के लिए एकजुट हो गए और प्राणों की परवाह किए बिना उन आतताईयों का सामना किया, भले ही कुछ अंग-भंग भी हुए। बिजली की भाँति इस उपद्रव घटना की खबर रियासत को मिल गई और उन नर-पिशाचों को रोकने के लिए दोपहर बाद रियासत की सेना राजाखेड़ा में आ गई।

साधु संघ ने उस समय, अद्भुत संयम का परिचय दिया।

पुलिस के अधिकारीगण आचार्यश्री के पास आये और उनके दर्शन कर वे इतने प्रभावित हुए कि आतंककारियों के दुष्कृत्यों पर कड़ी सजा देने की बात आचार्यश्री के सामने कहने लगे। तभी आचार्यश्री ने यह प्रतिज्ञा कर ली कि जब तक आप छिड़ी ब्राह्मण को हिरासत से नहीं छोड़ेंगे, तब तक हम आहार ग्रहण नहीं करेंगे।

एक ओर छिड़ी ब्राह्मण व उनके साथी खून के प्यासे होकर संघ पर विपत्ति के बादल बनकर बरस रहे थे और दूसरी ओर उन करुणाशील दयावन्त आचार्यश्री की इस प्रतिज्ञा को सुनकर पुलिस अधिकारी आश्चर्यचकित हुए कि ऐसा महान् संत उन्होंने अपने जीवन में पहली बार देखा है।

दुर्जन क्रूर कुमार्ग रतो पर क्षोभ नहीं मुझको आवे।

साम्यभाव रक्खूँ मैं उन पर, ऐसी परिणति हो जावे।।

अहिंसा के इस कल्याणकारी प्रशस्त पथ के अनुशीलक साधुजन ही होते हैं, जो दुर्जन के प्रति समता भाव रखकर उन्हें धर्मवृद्धि का आशीर्वाद देते हैं।

•

17.

गंधोदक की अपूर्व महिमा

- वीतराग जिनेन्द्र भगवान् की परम पूज्य प्रतिमा का पंचामृत अभिषेक एवं शान्तिधारा करके, जो गंधोदक प्राप्त होता है, उसको मस्तक तथा शरीर के कटिभाग से ऊपर श्रद्धापूर्वक लगाने से, अनेक रोगों का नाश हो जाता है।
- कवि धनंजय कहते हैं – विष व्याधि दूर कराने वाले, मणि-मन्त्र, तंत्र औषधि आदि के लिए भटकते फिरते हैं, किन्तु आश्चर्य है कि वे आपका स्मरण नहीं करते। आचार्य वीरसेन ने श्री धवल ग्रन्थ में लिखा है – जिनेन्द्रदेव के गुणों का कीर्तन करने से विघ्न नष्ट होते हैं, भय निवारण होता है और दुष्ट देवता आक्रमण नहीं करते हैं।
- मुख्य बात है पक्की श्रद्धा और अटूट विश्वास होने का।
- मन्त्र का फल श्रद्धा/ विश्वास पर प्राप्त होता है।

श्री सुबलसागर महाराज (ऐलक) जी के जीवन की घटना है। उनका गृहस्थ जीवन का नाम पायगौड़ा सत्यगौड़ा पाटील था। 1945 में उन्हें एक भयंकर सर्प ने काट लिया। शरीर में अपार दाह उत्पन्न हुआ और जीवन असंभव प्रतीत होने लगा।

सत्यगौड़ा पाटील ने उस समय मन में विचारा कि यदि इस विकराल सर्प के विष प्रभाव से बच गए तो दीक्षा ले लेंगे और यदि न

बचे तो समाधिपूर्वक प्राण विसर्जित कर देंगे ।

घटना के समय क्षुल्लक समन्तभद्रजी व एक कीर्तनकार जिनगौड़ा पाटील मांगूरकर उपस्थित थे । उन्होंने भक्तिपूर्वक विषापहार स्तोत्र का पाठ प्रारम्भ किया । उसी समय भगवान् का पञ्चामृत अभिषेक किया गया था । ऋषिमण्डल मन्त्र का जाप भी हो रहा था । अभिषेक और शान्तिधारा पूर्ण होने पर अभिषेक का सारा जल उनके ऊपर डाल दिया गया । गंधोदक का जल उनके शरीर पर पड़ते ही विष वेदना तत्काल दूर हो गई और शरीर विषरहित हो गया ।

तब मुनि पायसागरजी के पास बोरगाँव जाकर पायगौड़ा सत्यगौड़ा पाटील ने क्षुल्लक दीक्षा ली और बाद में 18 नवम्बर, 1946 को शिरगुप्पी महाराज से ऐलक दीक्षा ली ।

गंधोदक के इस अचिन्त्य प्रभाव की महिमा जिनेन्द्र भगवान् के मन्त्र की अपूर्वता है ।

जिनसेन स्वामी ने जिनेन्द्र भगवान् को मन्त्रवेत्ता, मन्त्र निर्माता, मन्त्र धारक तथा मन्त्रमूर्ति कहा है ।

जैन मन्दिर का माली जिन भगवान् की सेवा करता था । उसके मन में पार्श्वनाथ भगवान् के प्रति गहरी श्रद्धा थी । एक दिन उसे भयंकर सर्प ने काट लिया । उसने जैन बंधुओं से प्रार्थना की कि भगवान् पार्श्वनाथ का अभिषेक करें और गंधोदक उसके शरीर पर लगावें ।

जैन श्रावक इधर भगवान् की पूजा में तन्मय थे, वहाँ माली विष के गहरे असर से प्रभावित होकर शिथिल होता जा रहा था । लोगों की भीड़ एकत्रित होती जा रही थी । जैनेतर तथा अन्य धर्मावलम्बी लोग कहने लगे कि पूजन में समय गुजार कर ये गरीब माली को मार डालेंगे ।

माली को दूसरा चक्कर आ गया । तब तक भगवान् का अभिषेक सम्पन्न हो चुका था और तीसरे चक्कर में जब गंधोदक उसके शरीर पर लगाया गया तो स्पर्श होते ही तत्काल विष उतर गया और उसकी वेदना मिट गई । प्रत्यक्षदर्शी इस घटना से अत्यन्त प्रभावित हुए और जिनेन्द्रदेव के प्रति उनकी गहरी श्रद्धा भक्ति हो गई ।

उस गाँव में आज तक जिनेन्द्र भगवान् की महिमा का बहुत आदर भाव से स्मरण किया जाता है ।

आज हमारी श्रद्धा भगवान् से हटकर लक्ष्मी के प्रति हो गई है । मन्त्र की शक्ति, श्रद्धा गुण पर आधारित होती है । जिनशासन की शरण में रहते हुए हमारी दशा हीन हो रही है । क्यों? इसका मुख्य कारण हमारी श्रद्धा में मजबूती नहीं है ।

विषापहार स्तोत्र की रचना किस भाव स्थिति में कवि धनञ्जय द्वारा की गई । उसका पुत्र सर्प विष के प्रभाव से मरणासन्न है । सम्यक्त्वी धनञ्जय अविचल रूप से भगवान् की पूजा में निरत रहता है । उसका दृढ़ श्रद्धान उसे विचलित नहीं कर पाया ।

फिर पूजोपरान्त वह जिनेन्द्र भगवान् के शरणाभूत होकर कहता है – आप ही मन्त्र हैं, रसायन हैं, औषधि हैं । आप ही जीवन रक्षक हैं । सर्प-विष क्या? आप तो जीव को मोह और मिथ्यात्व के विष से उबारकर उसके कल्याणभाजन बनते हो । आपसे ऊपर कोई विष निवारण का उपाय नहीं है । सच्ची श्रद्धा से उद्भूत वह विषापहार स्तोत्र, उसके पुत्र को नया जीवन दे जाता है ।



18. महाव्रती का नमस्कार : आत्मविश्वास की मुस्कान

- श्रमण संत महाव्रतों का अनुशीलक होता है। उसका अनुशीलन अन्तःकरण के दृढ़ संयम से उपजी, आगम के प्रति अटूट आस्था भावना से जुड़ा होता है। वह भय या अप्रत्याशित आपदा से भयभीत नहीं होता। उसका विश्वास होता है कि आगमानुकूल आचरण, संदेह से रहित और निरापद होता है। हाँ! यदि कोई संचित पाप-कर्म का उदय ही हो तो उससे उपजे अनिष्ट को परीक्षा की घड़ी समझकर समता परिणामों से सहन कर लेना चाहिए।

कुंभोज (बाहुबली) में आचार्य श्री शान्तिसागरजी का वर्षायोग चल रहा था। उस समय मुम्बई निवासी एक धर्मात्मा पुण्यवान सेठ पूनमचंद घासीलालजी जौहरी की भावना हुई कि आचार्यश्री के पूर्ण संघ को पूर्ण वैभव और श्रमणोचित मर्यादा के साथ पावन तीर्थ श्री सम्मोदशिखरजी वन्दनार्थ ले जाऊँ।

सेठ साहब अपनी यह भावना आचार्यश्री से एक-दो बार पूर्व में भी प्रकट कर चुके थे, परन्तु सुयोग और गुरु आज्ञा प्राप्त न हो पाने से वह भावना पूर्ण नहीं हो पा रही थी। इस बार आचार्यश्री ने सेठ साहब के अन्तःकरण की निर्मल भावना को जानकर अपनी स्वीकृति दे दी।

कार्तिक कृष्णा प्रतिपदा, वीर निर्वाण संवत् 2453 (सन् 1927) के मंगल दिवस पर हर्षप्रद समाचार समाज की जानकारी में आ गया और अष्टाहिका पर्व समापन के साथ ही संघ ने आचार्यश्री सन्निधि में बिहार प्रान्त की ओर विहार करने का निश्चय कर लिया।

तत्कालीन उत्तर भारत में दिगम्बर साधुओं का प्रवेश कई सौ वर्षों से नहीं हुआ था क्योंकि वह मुसलिम बहुल क्षेत्र था। एक दिन की बात है कि वयोवृद्ध पंडितजी आचार्यश्री के समीप आये और उन्होंने संघ को श्रद्धावन्त हो बहुत ममत्व भाव से आचार्यश्री से निवेदन किया गुरुवर्य! उत्तरभारत की जनता खोटी एवं वक्र प्रकृति की है। हमारे जीवन में, मैंने कभी दिगम्बर मुनियों का उस क्षेत्र में विहार होते हुए नहीं देखा। जब संघ उस क्षेत्र में प्रवेश करेगा तो ऐसी आशंका है कि विधर्मी और विद्वेषीजन संघ पर विघ्न उपस्थित करेंगे।

तत्कालीन श्रावकजनों का मनोबल राजनैतिक और सामाजिक स्तर पर गौरवशाली नहीं था। अतः उन वृद्ध पण्डितजी ने यह सुझाव दिया कि आप किसी देवता को सिद्ध कर लें, जो संघ की रक्षा में सहयोगी बनता हुआ आपके साथ चले।

महाराजश्री ने वयोवृद्ध विद्वान् की बात को शान्तभाव से सुनकर एक प्रश्न किया - आप इतने विद्वान् हैं, परन्तु क्या आपका मिथ्यात्व समाप्त नहीं हुआ? अन्यथा आप हमें आगम के विरुद्ध कोई ऐसी सलाह नहीं देते।

पण्डितजी ने आचार्यश्री का यह भाव पूरी तरह से समझ नहीं पाया और विनम्र भाव से इसको और अधिक स्पष्ट करने की प्रार्थना की।

आचार्यश्री ने पुनः एक प्रश्न किया - क्या व्रती या महाव्रती किसी अव्रती के लिए नमस्कार करेगा? पण्डितजी ने कहा - नहीं, महाराजश्री! व्रती किसी अव्रती को नमस्कार कैसे कर सकता है? महाराजश्री बोले - किसी विद्या या देवता को सिद्ध करने के लिए उसे नमस्कार करना आवश्यक है। अव्रती के लिए नमस्कार करना, अपने व्रत में दोष लगाना है।

पण्डितजी इस युक्तिवाद को सुनकर चुप हो गए। आचार्यश्री उनकी गंभीरता को देखकर बहुत आश्चर्य होकर बोले-इसमें डरने की क्या बात है? हमारा पञ्चपरमेष्ठी पर गहरा विश्वास है। उनके प्रसाद से हमें कोई विघ्न/बाधा नहीं होगी और कदाचित् हम लोगों के असाताकर्म के तीव्र उदय से ऐसी कोई अप्रत्याशित आपत्ति सामने आयेगी तो उसे हमें एवं हमारा संघ सहन करने को तैयार है।

आचार्यश्री के अदम्य साहस और आत्मविश्वास के सामने उन वात्सल्य हृदयी पण्डितजी की आशंकायें निर्मूल साबित हो गईं। उनका हृदय परिवर्तन हो गया। उनके भीतर से आवाज निकली, प्रभो! आप उत्तर की भूमि में धर्म की धारा प्रवाहित करने के लिए भव्य जीवों का उपकार करें और तीर्थ दर्शन की पावन पीयूष भावना के सम्बल से यह यात्रा प्रारम्भ करें। आपका यह मंगल मार्ग जिनेन्द्रदेव के प्रसाद से पुण्य प्रशस्त होगा, ऐसा भाव उद्रेक अब बार-बार उठ रहा है।

आचार्य श्री का आत्म विश्वास मुस्करा रहा था।

•

19.

मनुष्य भव का मूल्य

व्रतपूर्वक जीवन जीना मनुष्य भव की सार्थकता है। आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज ने बारामती वर्षायोग के समय पर्युषण पर्व में व्रत पालन करने का बहुत मार्मिक उपदेश दिया था। उन्होंने कहा -

1. जो विषयों का उपयोग किए बिना उसको त्यागते हैं वे श्रेष्ठ हैं, नर-पुंगव हैं।
2. जो विषयों को भोगकर पश्चात् त्यागते हैं, वे मध्यम हैं।
3. जो विषयों को भोगते ही रहते हैं और छोड़ने का नाम ही नहीं लेते, वे अधम हैं अर्थात् व्रत रहित जीवन निरर्थक और मूल्यहीन होता है।

लोगों की धारणा है कि व्रत का पालन करने में कष्ट होता है। यह भ्रम है। संसार के कामों में व्यक्ति कितना श्रम करता है? कितना कष्ट उठाता है? द्रव्य के अर्जन में न दिन में चैन और उसके संरक्षण में न रात में नींद। वे दिन-रात उसके संचय में सुख का भ्रम पाल बैठे हैं।

व्रत के पालन में इतना कष्ट नहीं उठाना पड़ता है। व्रती बनकर देव पर्याय में इतना सुख प्राप्त होता है जिसकी कल्पना मनुष्य भव में नहीं की जा सकती। इसके साथ ही देव पर्याय में यह जीवात्मा विदेहक्षेत्र तक में जाकर साक्षात् सीमंधर स्वामी का दर्शन लाभ और दिव्यध्वनि श्रवण कर सम्यक्त्व लाभ प्राप्त कर सकता है। आचार्य श्री ने जिस

मार्मिक बिन्दु पर ध्यानाकर्षित किया। वह था - जगत् के जीवों का कैसे कल्याण हो, यह विचार बार-बार मन में आना चाहिए। जगत् के कल्याण का चिन्तन करने से तीर्थङ्कर का पद प्राप्त होता है। यदि अन्तःकरण में करुणा का भाव नहीं है तो क्षायिक सम्यक्त्व के होते हुए भी तीर्थङ्कर प्रकृति का बंध नहीं होता। अस्तु, व्रत धारण करो-वह व्रत अवश्य पलेगा। शास्त्राज्ञा ही जिनेन्द्राज्ञा है।

शास्त्राज्ञा के अनुसार व्रतों का पालन करना चाहिए, रुढ़िवश नहीं। लोक की आज्ञा रुढ़ि है। धर्मात्मा-शास्त्र को अपना मार्गदर्शक मानता है।

भोग और विषय त्यागने से वे हमारा पिण्ड छोड़ सकते हैं, भोगों को कितना ही भोगें उनसे तृप्ति नहीं मिल पाती, यह त्रैकालिक सत्य भीतर बैठ जाना चाहिए। मनुष्य भव का मूल्य आत्महित में है। आत्महित भोग/विषयों के त्याग में है। सौ वर्ष का व्रताचरण रहित जीवन भी महत्त्वहीन है परन्तु व्रताचरण पूर्वक एक वर्ष का जीवन भी परम सार्थक और महनीय है।

आचार्य शान्तिसागरजी महाराज बहुत दयापूर्वक संसारी जीवों के कल्याण की मंगल भावना से उद्बोधते हैं -“ भविष्य का क्या भरोसा, आत्मा के कल्याण के लिए व्रत ग्रहण कर लो।”

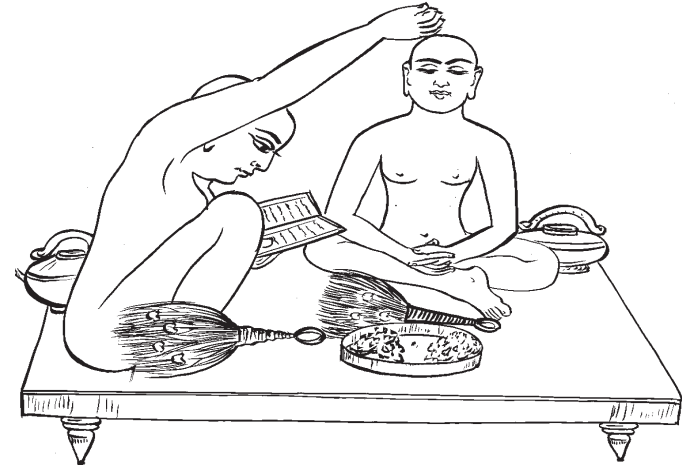
व्रत की महिमा से अनुप्राणित होकर गृहस्थाश्रम के आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज के ज्येष्ठ भाई ने 76 वर्ष की अवस्था में मुनि दीक्षा लेकर वर्द्धमानसागर नाम से महान् दिगम्बर मुद्रा को धारण किया।

त्याग में आनन्द की अनुभूति जिनके प्राणों में समा जाती है, उन्हें वृद्धावस्था में भी इस महाव्रत लेने से नहीं रोक सका। वृद्धावस्था में

महाव्रत का कठिन पालन और मुनि मुद्रा धारण करना आज का बुद्धिजीवी वर्ग सोच भी नहीं सकता।

दीक्षा देने के उपरान्त आचार्यश्री शान्तिसागरजी ने मुनि श्री वर्द्धमानसागरजी को आदेश दिया कि आप दक्षिण की ओर विहार करें। मोह का लेश भी उत्पन्न न हो, इससे दीक्षा के पश्चात् गुरु की ऐसी आज्ञा हुई। दोनों सगे भाई साथ-साथ रहते तो सम्भव था कि मन में मोह का भाव जागृत हो जाए। अतः परम अनुभवी आचार्य श्री ने उन्हें अन्यत्र रहने का आदेश प्रदान किया।

निर्दोष रीति से व्रतों का पालन करना बहुत बड़ी साधना है। ऐसी साधना की कसौटी पर जो खरे उतरने वाले हैं, ऐसे तपस्वी विरले ही होते हैं।



20.

रुद्रप्पा की समाधि

- आसक्ति जितनी गहरी होती है, मृत्यु का भय उतना ही ज्यादा होता है।
- आसक्ति रखने वाला पुरुष अज्ञानी होता है।
- अज्ञानी ही आसक्ति और मोह की डोर से बंधा होता है। वह उससे दूर नहीं होना चाहता।
- मृत्यु वर्तमान में प्राप्त पर्याय से जीव को अलग करती है। इसलिए अज्ञानी के लिए मृत्यु सदैव भयकारी होती है।
- सम्यक्त्व और चारित्र्य से युक्त ज्ञानीजन समाधिमरण पूर्वक मृत्यु पर विजय प्राप्त करके उससे भयभीत नहीं होता।
- समाधि या समाधिमरण में शरीर और आत्मा के पृथक्पने को भेदविज्ञान से समझकर देह के प्रति ममत्व नहीं रखता और बाह्य काय तथा आभ्यन्तर कषाय, दोनों को कृश करता हुआ आत्म जागृत रहता है।
- मुनिजन, समाधि पूर्वक देह विसर्जन की अभिलाषा रखते हैं। वे समाधि पूर्वक मृत्यु पर जय पाने की इस अद्भुत कला द्वारा जीवन को उसी प्रकार विशुद्ध बनाते हैं, जैसे स्वर्ण अग्नि से निखरकर शुद्ध हो जाता है।
- जैसे साँप केंचुली उतार देता है, वैसे ही ज्ञानी वीतरागी पुरुष समाधि धारण कर व्याधिजनित/असमर्थ/वृद्ध शरीर को छोड़ देता है। वह शरीर के प्रति, उसके बने रहने का न राग करता है

और न ही व्याधि से व्याकुल होकर छूट जाने वाले द्वेष भाव से भरता है।

आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज के गृहस्थाश्रम में एक अभिन्न मित्र थे लिंगायत धर्मावलम्बी श्रीमन्त रुद्रप्पा। सत्यव्रती रुद्रप्पा वेदान्त के भाष्यकार और बड़े पण्डित थे। वे अत्यन्त निष्कलंक एवं विनम्र आचारवान् व्यक्ति थे। सांसारिक भोग वासनाओं से उपरत वह अपने ही घर में मौन रहकर स्वाध्यायशील रहते थे।

जब भी रुद्रप्पा का मन होता वह आचार्यश्री के पास आते (जब आचार्यश्री गृहस्थ अवस्था में थे) उनसे तत्त्वचर्चा करते और आचार्यश्री के उपदेशों को बहुत शान्त और गम्भीर होकर सुनते।

दो समान विचारों के व्यक्तियों में ही निःस्वार्थ मैत्री होती है। दोनों सरल स्वभावी तथा ज्ञानी थे। विभिन्न दर्शन के पण्डित होने पर भी रुद्रप्पा में धर्म सहिष्णुता थी।

एक समय की बात है कि भोज ग्राम जहाँ रुद्रप्पा रहते थे, भयंकर प्लेग फैला। प्लेग के भीषण रूप के कारण श्री शान्तिसागर जी के पिता श्री भीमगौड़ाजी पाटील अपने बच्चों और धर्मपत्नी श्रीमती सत्यवती जी को लेकर ससुराल यरनाल ग्राम पहुँच गए।

कुछ दिन बाद श्री सातगौड़ा (आचार्य श्री के गृहस्थावस्था का नाम) को सुनने में यह आया कि रुद्रप्पा को प्लेग हो गया है। प्लेग की गाँठ उठ आई। प्लेग की वीभत्सता से लोग इतना घबराते थे कि सगे कुटुम्बीजनों के बीमार होने पर भी वहाँ नहीं जाते थे। जैसे लोग व्याघ्र से डरते हैं, ऐसे ही इस संक्रामक रोग से लोग भयभीत होते थे।

जब सातगौड़ाजी को अपने मित्र का यह समाचार ज्ञात हुआ तो बिना कुछ परवाह किए बिना वे चुपके से रुद्रप्पा के पास चले गये। जो

दूसरों के कल्याण की भावना से भरा होता है, भय उसके पास नहीं रहता। मित्र रुद्रप्पा को शोचनीय हालत में देखकर उन्होंने सोचा- इस जीव का अंतिम कल्याण करना हमारा कर्तव्य है। रुद्रप्पा अपने मित्र को पास देखकर अत्यन्त वात्सल्य भाव से भर गया।

आचार्य महाराज ने बहुत स्नेहभाव से कहा -“रुद्रप्पा, अब तुम्हारा समय समीप है। अतः समाधिमरण करो। शरीर से आत्मा जुदा है यह तुम अच्छी तरह जानते हो। अतः अब इस शरीर से मोह छोड़ो। रुद्रप्पा, तुम आत्म जागृत बनकर ‘अरहंता’ नाम बोलो।” बस मित्र के वचन सुनकर रुद्रप्पा ‘अरहंता’, ‘अरहंता’ के जाप करने लगा।

अपने मित्र की कल्याणकारी वाणी सुनकर वह जैनधर्म के प्रति श्रद्धाभिभूत हो उठा। उसने स्वीकृति में सिर हिलाया कि जैन गुरु और जैन शास्त्र ही सही गुरु और ज्ञान पथदर्शक हैं। उसका मिथ्यात्व और मोह का कुहासा विरल होने लगा। जैनधर्म के प्रति, क्षण प्रतिक्षण वह श्रद्धा भाव से भरकर ‘अरहंता’ का नाम पुकारने लगा।

धीरे-धीरे रुद्रप्पा का शरीर शिथिल होता जा रहा था तथा उसके शब्द भी मंद पड़ते जा रहे थे। लेकिन ओष्ठों का स्पंदन बराबर अरहंता का ध्यान करता हुआ मालूम पड़ रहा था। आचार्यश्री उसे बराबर आत्मबोध दे रहे थे।

थोड़ी देर के पश्चात् रुद्रप्पा वहाँ नहीं था। मात्र उसका निर्जीव शरीर रह गया। समाधिमरण के प्रेमी आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज ने अपने मित्र को सुपथ पर लगा दिया और उनकी सद्गति प्राप्त कराने में निमित्त बने। ऐसी मैत्री आज कौन करता है? आज की मैत्री स्वार्थ और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए हुआ करती है।

•

21.

बन्ध और मुक्ति

- यह प्राणी दासता के बन्धन को स्वयं आहूत करता है। कोई दूसरा बन्धन के लिए उत्तरदायी नहीं है। अपने भावों से वह संसार का सृजन करता है और अपने ही भावों से संसार की बेड़ियाँ काटता है।

एक बहेलिया तोता को पिंजरे में बंद किये बाजार में बेचने के लिए लाया। मैंने इस बहेलिया से कहा -“इसे पिंजरे में क्यों बांधा है।” बहेलिया बोला -“श्रीमान्! यह बन्धन इसने स्वयं स्वीकार किया है।” मैंने प्रश्न किया - कैसे?

बहेलिया कहने लगा -“इसके दो पंख हैं, जिससे यह उन्मुक्त हो आकाश में उड़ सकता है, परन्तु दाने के लोभ में यह रस्सी को अपने पंजों से जकड़ लेता है।” रस्सी उसे नहीं पकड़ती है यह उल्टा रस्सी पर लटकने को राजी है, उड़ने को राजी नहीं है।

ठीक इसी प्रकार जीव को कोई बाँध नहीं सकता। यह अपने रागात्मक अनुबंधों से मोह की अदृश्य रस्सी से बंधने में सुख की परिभाषा मान बैठा है।

आचार्य श्री शान्तिसागरजी ने बंध और मुक्ति को एक रूपक कथा के द्वारा समझाया था।

चार मित्र देशाटन को निकले। चारों मित्र अपने विषय और

वास्तु में निपुण थे। वे एक घने जंगल से गुजर रहे थे। रात्रि का समय हो जाने से उन्होंने वहीं विश्राम करने का सोचा। सलाह हुई कि तीन-तीन घण्टे सभी एक-एक करके जागरण करेंगे और सामान की देखभाल के साथ ही वन्य प्राणियों से सचेत रहेंगे। पहला मित्र काष्ठ कर्म में निष्णात था। अनजान लकड़ी को आकार दे देना उसकी कला की विशिष्टता थी। सोचने लगा अकेले तीन घण्टे कैसे व्यतीत करूँगा। जंगल में एक सूखी लकड़ी का भाग दिखाई दिया। उसने अपनी शिल्प कला का हुनर भी देखना चाहा कि क्या वह तीन घण्टे में इसे शेर का आकार दे सकता है?

कौतूहल और कला का संगम हुआ। उसने सोचा कि शेर का बुत बनाकर शिलाखण्ड पर रख देंगे तो अन्य वन्य प्राणी यहाँ नहीं आयेंगे।

काष्ठ ने शेर का आकार ले लिया।

दूसरे मित्र के जागरण की बेला आई। वह चित्रकला और रंगकर्म में निपुण था। उसने देखा, पहले मित्र ने काष्ठ को शेर का आकार दिया। मैं रंगों से उसके अंग प्रत्यंग को अभिव्यक्ति दूँगा। तीन घण्टे के समय का उपयोग भी हो जायेगा। उसने रंगों से शेर को असली शेर जैसा रूप दे दिया।

तीसरा मित्र मन्त्र वेत्ता और विद्वान् था। मन्त्र की सहायता से वह जड़ में चेतन का संचार कर सकता था। तीसरे मित्र ने दो मित्रों की कला देखी और अपने मन्त्रों की परीक्षा के लिए उसने उसे साकार/रूप में प्राण का संचार करने की सोची। मन्त्रों का प्रभाव है कि वह जड़ शेर क्रियाशील होने लगा। उसमें हलन-चलन होते देख वह समीपस्थ वृक्ष

पर चढ़ गया तथा अपने तीन साथियों को भी वृक्ष पर चढ़ने के लिए पुकारने लगा। तब तक शेर अपने रौद्र रूप में आ चुका था।

चौथा मित्र तांत्रिक और बुद्धिमान् था। उसने सोचा इस संकट को हमारे तीन मित्रों ने स्वयं बुलाया है और अब प्राण रक्षा के लिए पेड़ पर चढ़ गये हैं।

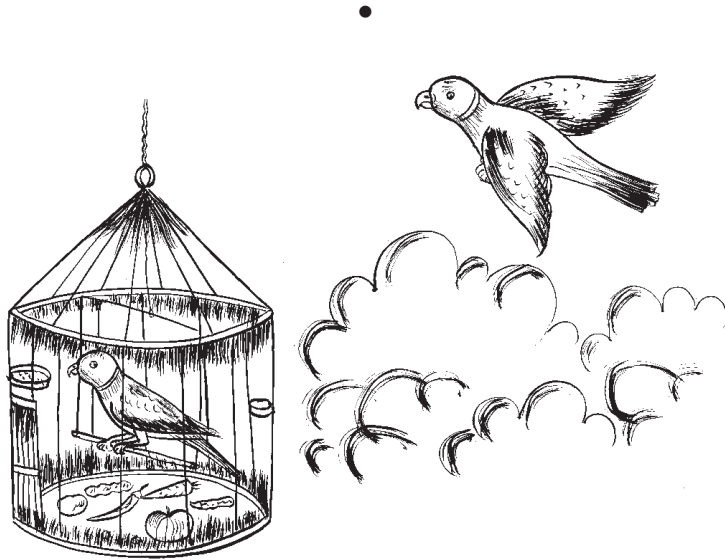
तांत्रिक को यह जानते देर नहीं लगी कि तीसरे साथी के मन्त्र के प्रभाव से यह उछल-कूद कर रहा है। उसने अपने तीसरे मित्र से कहा -“अब डर क्यों रहे हो? तुमने ही अपने मन्त्र के प्रभाव से उसे काष्ठ के शरीर में यह प्राण प्रतिष्ठा की है। जिस मन्त्र से प्राण संचार किये, उस मन्त्र का प्रतिकार मन्त्र भी तुम जानते होगे। तुम अपनी शक्ति को वापस खींच लो वह शेर पुनः जड़ रूप बन जायेगा।”

मन्त्र की शक्ति ने संकट को उपस्थित किया है। मन्त्र ही इस पर काबू पा सकता है। तांत्रिक की बातें सुनकर मांत्रिक मित्र का विवेक जागृत हुआ। उसने तत्काल प्रतिकार मन्त्र का परीक्षण किया और वह रौद्र रूप व्याघ्र जड़ रूप हो गया।

दृष्टान्त के रहस्य को जानें। जीव अपने रागद्वेष द्वारा संकट रूप शेर के शरीर में प्राण प्रतिष्ठा करता है। लेकिन वह चाहे तो अपने राग-द्वेष परिणामों को दूर करके कर्मरूपी शेर को समाप्त कर सकता है। राग-द्वेष के नष्ट होने पर कर्म जड़ रूप ही हैं, हमारा कोई बिगाड़ नहीं कर सकते। मुक्ति का मन्त्र भी हमारे हाथ में है और बंधन/संकट का मन्त्र भी हमारे पास है। सब कुछ हमारे विवेक, पुरुषार्थ और संयम साधना पर निर्भर है। बंधन और मुक्ति के मन्त्र के स्वामी हम हैं। कोई अन्य हमें बाँध नहीं सकता है और न मुक्ति दिला सकता है।

अपराधी जेल/कारागृह का बंधन स्वयं निमंत्रित करता है। कारागृह अपना घर नहीं है। सुविधापूर्ण कारागृह से भी व्यक्ति छूटना चाहता है। परन्तु सजा की अवधि उसे वहाँ काटनी होती है। संसार कारागृह में, जीव आयुकर्म की अवधि तक को रहने को बाध्य है। परन्तु अपराधी भी सदाचरण से सजा की अवधि को कम करा लेता है। वह जल्दी छूट जाता है। बंधन को स्वभाव न मानें। बंधन सुविधामय हो सकता है, परन्तु शान्ति का सोपान और सुख वहाँ अनुपस्थित रहता है।

मुक्ति असीम होती है। मुक्ति आकाश को भी बाँहों में भर लेती है। मुक्ति का सुख, मुक्ति की अमरता, मुक्त जीव ही अनुभव कर पाता है।



22.

प्रेरणा के पावस

आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज, कोल्हापुर में शाहुपुरी के मन्दिर में विराजमान थे। वहाँ श्री पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव सम्पन्न हो रहा था। कोल्हापुर के दीवान श्री ए.बी.लट्टे दिगम्बर जैन थे, जिनकी महाराष्ट्र प्रान्त में अच्छी प्रतिष्ठा थी। कोल्हापुर के नरेश भी लट्टे साहब का बहुत आदर करते थे।

आज से सौ वर्ष पूर्व बाल विवाह प्रथा का जोर था। जैन समाज भी इस कुप्रथा से अछूती नहीं थी। आचार्यश्री की दृष्टि समाज सुधार की ओर रही और वे इस प्रथा को अनीति और बाल मन के लिए अभिशाप मानते थे।

उस समय बाल मृत्यु दर भी अधिक थी। लड़के के मरने पर बालिका विधवा कहलाने लगती थी, जबकि वह बुद्धि से अपरिपक्व बनी रहती थी। शादी का मतलब भी वह नहीं जानती कि इसके पूर्व वह विधवा कहलाने लगती।

श्रावकों ने आचार्यश्री से प्रार्थना की कि महाराज आपकी वाणी में मन्त्र जैसी सिद्धि विराजमान है। समाज के इस कोढ़ को मिटाने के लिए आप कोई ठोस उपाय करें। उस समय आचार्यश्री मौन रह गये।

एक दिन दीवान लट्टे साहब आचार्यश्री के चरणों में नमोऽस्तु करके बैठ गये। महाराजश्री ने समय की उपयोगिता को निहारा। उन्होंने

दीवान साहब को अपना आशीर्वाद देते हुए कहा-तुमने पूर्व जन्म में बहुत पुण्यार्जन किया होगा, जिससे आप इतने प्रतिष्ठापूर्ण पद पर आसीन हैं। अन्य प्रान्तों में तुम्हारा मान/सम्मान बहुत है।

दीवान लट्टे साहब ने विनम्रता पूर्वक कहा -“महाराज ! मेरे योग्य सेवा सूचित करने की प्रार्थना है।”

महाराजश्री ने कहा -“बाल-विवाह की अनीति जोरों पर चल रही है। तुम बाल विवाह प्रतिबंधक कानून लागू करवाओ। इससे तुम्हारा जीवन सार्थक हो जायेगा। इसमें विलम्ब न करें।” दीवान साहब की आत्मा अत्यन्त हर्षित हुई और मन ही मन उन्होंने महाराज श्री की इस सूझ की प्रशंसा की। उन्होंने स्वीकृति में नमोऽस्तु किया और इस कार्य को यथाशीघ्र सम्पादित करने का अभिवचन देकर उठ गये।

लट्टे साहब कोल्हापुर नरेश के महल में पहुँचे। उस समय महाराज साहब विश्राम कर रहे थे। फिर भी दीवान साहब के इस अप्रत्याशित आगमन से वे बाहर आये और कुशलक्षेम पूछने लगे।

लट्टे साहब ने महाराज का यथायोग्य अभिवादन किया और विनम्र भाव से कहने लगे -“हम सभी के पूज्य आचार्य गुरु महाराज ने मुझे आशीर्वाद देकर, बाल विवाह प्रतिबंधक कानून बनाने के लिए कहा है।” महाराजश्री लट्टे साहब की गुरुभक्ति से बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा -“दीवान जी! आप कानून का प्रारूप तैयार करो। मैं उस पर हस्ताक्षर करके राज मुद्रा अंकित करूँगा और कोल्हापुर राज्य के सरकारी गजट में प्रकाशित करके उसे क्रियान्वित करूँगा।”

दीवानजी ने कानून का मसौदा तैयार किया और दूसरे दिन प्रातःकाल राजा श्री कोल्हापुर ने उस पर हस्ताक्षर करके राज्य में उस

कानून को लागू कर दिया।

दोपहर के बाद सरकारी घुड़सवार सुसज्जित हो एक कागज लेकर आचार्य श्री शान्तिसागरजी के पास पहुँचा।

लोग आश्चर्य में थे कि आज आचार्यश्री के पास यह शासकीय अधिकारी शाही सवारी पर आरूढ़ होकर क्यों आया है ?

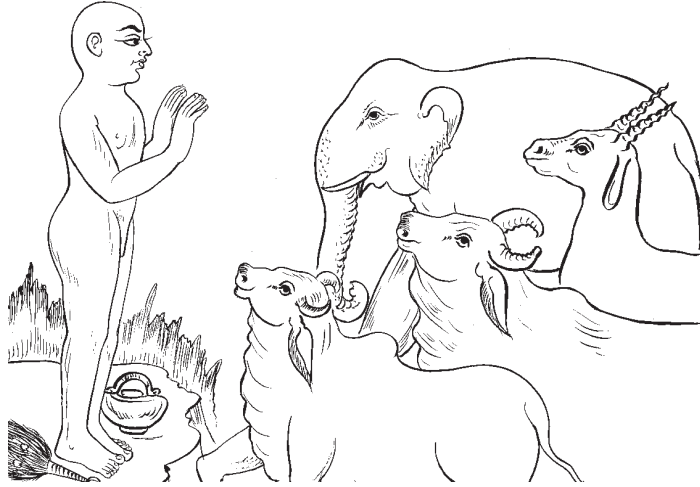
शस्त्रालंकृत घुड़सवार ने आचार्यश्री को प्रणाम किया और उनके हाथ में एक राजमुद्रा अंकित बंद लिफाफा (पत्र) सुपुर्द कर दिया।

लोगों को पहले हैरानी हुई कि महाराजश्री के पास बन्द लिफाफे में यह सरकारी पत्र क्यों आया हुआ है? महाराजश्री के समक्ष वह लिफाफा खोला गया और पत्र को पढ़ा गया।

उस पत्र में यह सूचित गया था कि कोल्हापुर सरकार ने “बाल विवाह प्रतिबंधक कानून” बना दिया है। यह जानकर महाराज श्री के मुखमण्डल पर एक अपूर्व आनन्द आभा अंकित हो गई।

समाज के परिष्कार के सर्वतोभद्र सुधारक आचार्यश्री की यह दृष्टि कितनी सर्वव्यापी और कल्याणकारी रही। सच कहा जाये तो उक्त कानून के जन्मदाता आचार्यश्री ही थे, जिनके मौलिक विचारों से कोल्हापुर के महाराजा अभिभूत हो और दीवान साहब को सहर्ष आज्ञा दी कि उक्त कानून बनाकर राज्य में लागू किया जावे। संत समाज का उन्नायक होता है। वह समाज से निरपेक्ष नहीं रह सकता। तात्कालिक रुढ़ियों/कुप्रथाओं/अनीति के विरुद्ध वह आवाज़ उठाता है और उसकी आवाज़ में सम्पूर्ण समाज और जनमानस की शक्ति कार्य करती है।

ठीक ऐसा ही प्रसंग आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने इक्कीसवीं सदी के आह्वान में गौवंश के विनाश को होते देखकर भारत भूमि पर खुल रहे आधुनिक तकनीकी से युक्त कत्लखानों का पुरजोर विरोध किया/ कर रहे हैं। उन मूक पशुओं की चीत्कार से आचार्यश्री का करुणामयी हृदय आंदोलित हो गया और जगह-जगह 'गौशालाएँ' खुलवाकर नष्ट हो रहे गौवंश का संरक्षण, अपने आशीर्वाद से समाज के लोगों द्वारा करवा रहे हैं।



23.

हिन्दु भक्त का अनुराग

घटना 16 जून, 1928 की है। आचार्य श्री शान्तिसागरजी का संघ रीवा रियासत अन्तर्गत मैहर में पहुँचा। संघ श्री सम्मेशिखर तीर्थाटन हेतु विहार करता आगे बढ़ता जा रहा था। मैहर के आगे पलासवाड़ा गाँव में संघ का विश्राम हुआ।

एक सरल भोले हिन्दु भक्त ने, आचार्यश्री के दर्शन करके यह समझा कि ये साधु महाराज हमारे धर्म के नागा बाबा के ही समान होंगे जो गाँजा चिलम और तम्बाखू पीते हैं।

सही है कलयुग में सत्य का सूर्य, मोह और मिथ्यात्व के मेघों से ढँक गया है। वासनाओं की पुष्टि करने वाले आज हितैषी माने जाते हैं। उसने तिलकधारी, भभूत लगाये साधु को गाँजा पीते देखा था, सो साधु को प्रसन्न करने के लिए उसके मन में ऐसी धारणा बन गई थी कि उन्हें चिलम और गाँजा पेश किया जावे।

हिन्दु भक्त आचार्यश्री के पास आया और भोले मन से अपनी पूर्व धारणा वश कहने लगा -“स्वामी जी! एक प्रार्थना अर्ज करूँ।” महाराज ने स्वाभाविक ढंग से कहा -“हाँ कहो! क्या कहना है?”

भक्त बोला -“भगवन्! थोड़ा-सा गाँजा मंगवा देता हूँ। उसको पीने से आपका मन चंगा हो जायेगा।”

महाराजश्री ने जान लिया कि इसे जैन साधु की क्रिया और संयम का ज्ञान नहीं है और न ही कभी इसने जैन साधु को देखा है।

अज्ञानता एवं प्रेमवश ऐसा कह रहा है। अतः महाराजश्री ने बहुत शान्तभाव से कहा –“हमारा मन सदा चंगा ही रहता है। हम साधुजन गाँजा नहीं पीते।” वह भक्त साश्चर्य बोला –“महाराज! सब साधु पीते हैं आप क्यों नहीं पीते।”

आचार्यश्री ने उसे समझाया –“ये मादक पदार्थ कहलाते हैं। इनके सेवन से भावों में मलिनता उत्पन्न होती है तथा इससे बड़ा पाप लगता है। सच्चे साधु की बात ही दूसरी है। इसे तो साधारण मनुष्य को भी नहीं लेना चाहिए।”

सही है ये मादक पदार्थ हृदय, नाडीतंत्र, वक्षस्थल, अग्न्याशय, मस्तिष्क और उदर को बुरी तरह से क्षतिग्रस्त कर देते हैं। गाँजा, भाँग, अफीम, चरस, मदिरा ये सभी मादक द्रव्य हैं और ये परस्पर एक दूसरे के भाई बन्धु हैं।

आचार्यश्री के समझाने से उस भक्त ने समझ लिया कि ये महाराज, उन साधुओं से अलग हैं, जिन्हें अभी तक हमने देखा और जाना था। ये तो कोई महान् तपस्वी और विशिष्ट साधु पुरुष हैं।

उस भक्त की भक्ति और उमड़ी। बहुत आत्मीय प्रेम से वह बोला “महाराज! थोड़ी मिठाई ला देता हूँ, उसे ग्रहण कर मुझे कृतार्थ करें।”

आचार्यश्री उसे पुनः समझाने लगे –“भक्त ! हम साधुओं के भोजन करने का बहुत कठिन नियम होता है। हम जैसा तैसा भोजन ग्रहण नहीं करते हैं।” महाराज ने उसकी निष्कपट भक्ति से यह जान लिया कि यह भव्य जीव है। अतः बहुत सरल भावों से उपदेश देने लगे। उस भक्त की स्त्री भी साथ में थी। स्त्री ने सारी जिन्दगी के लिए अनछने जल का त्याग किया, जबकि पुरुष ने परस्त्री त्याग का व्रत लिया।

•

24.

तप की तेजस्विता

आचार्य श्री शान्तिसागरजी महान् तपस्वी और निस्पृह योगी सन्त थे। उनके तप की तेजस्विता हिमालय जैसी विशाल और गम्भीरता सागर जैसी अगम थी। वे एक जन्मजात साधु थे।

साधु निर्मल, निस्पृह और सरल स्वभाव में जीता है। मोह के झंझावातों से निरपेक्ष रहकर अपनी आत्मा के कल्याण का सदैव चिन्तन करता रहता है। तप के फल को वह अपने से अलग रखता है। तपस्वी की वाणी में सिद्धि आ जाती है।

आचार्यश्री के तप की सामर्थ्य और प्रभाव की चर्चा विगत संस्मरणों में हो चुकी है, परन्तु सैंकड़ों घटनायें उनके तप की तेजस्विता से जुड़ी हैं। उन्होंने तप के फल का उपभोग स्वयं के लिए कभी नहीं किया।

घटना वेडणी ग्राम के एक श्रेष्ठी बन्धु की है। उन्होंने अपार धन खर्च किया परन्तु उनके सिर की पीड़ा दूर नहीं हुई। एक बार विनम्र भाव से आचार्यश्री के चरणों में बैठकर उन्होंने अपनी पीड़ा व्यथा सुनाई।

सन्त स्वभाव से करुणाशील होते हैं। दयार्द्र भाव से आचार्यश्री ने उस व्यक्ति के सिर पर अपनी पिच्छी रख दी। आचार्यश्री के व्यक्तित्व का यह चमत्कार साक्षात् प्रकट हुआ। उस व्यक्ति के सिर की पीड़ा कुछ ही क्षणों में ऐसे चली गई जैसे कुछ था ही नहीं। योगी जनों का समष्टि

के प्रति अपरिमेय करुणा भाव हुआ करता है। जैसे माँ का वात्सल्य अपने पुत्र पर होता है ऐसे ही वे वात्सल्य के रत्नाकर प्राणीमात्र के प्रति संवेदना से भर जाते थे।

दूसरी घटना फलटण के श्री तलकचंद गाँधी से सम्बन्धित है। उनके पुत्र को साँप ने काट लिया श्री गाँधी के पास अपने दस वर्षीय बालक को बचाने का बस एक ही उपाय सूझा। वे बहुत आत्म विश्वास पूर्वक बालक को आचार्यश्री के पास लाये। आचार्यश्री ने ध्यानपूर्वक बालक की ओर देखा और बोले -“चिन्ता मत करो। यह ठीक हो जायेगा।” आचार्यश्री की इस वाणी का ऐसा विलक्षण प्रभाव हुआ कि कुछ देर के बाद बालक निर्विष होकर स्वस्थ हो गया।

तीसरी घटना - नसलापुर के एक कुष्ठ पीड़ित व्यक्ति से जुड़ी है। वह आचार्यश्री के पास पहुँचा बहुत अनुनय विनय करने लगा। उस समय कुष्ठ रोग को असाध्य एवं लाइलाज माना जाता था एवं पापोदय की वजह से कुष्ठ रोगी समाज में घृणित दृष्टि से देखा जाता था।

आचार्यश्री ने उसे ब्रह्मचर्य व्रत देकर कहा - जाओ आजीवन इस व्रत का पालन करना, तू छह माह के भीतर ठीक हो जायेगा।

आचार्य गुरुदेव की वह शाश्वत वाणी उसकी दवा बन गई। वह व्यक्ति धीरे-धीरे स्वस्थ हो गया।

चौथी घटना - एक मिरगी रोगी से सम्बन्धित है।

जैन बंधु था। इस रोग की व्यथा से बहुत दुःखी था। न जाने कब कहाँ गिरकर उसका प्राणान्त हो जाये। उसने महाराजजी की बहुत सेवा-सुश्रुषा करनी शुरू की और यदा-कदा इस रोग से निवृत्ति हेतु प्रार्थना कर लिया करता था।

एक दिन जब आचार्यश्री का गमन होने लगा। उस व्यक्ति ने आचार्यश्री के चरण पकड़ लिए और बड़ी विनयपूर्वक कहने लगा।

आचार्यश्री ने उसे आशीर्वाद देकर कहा -“तू पूजन किया कर थोड़े समय में ही ठीक हो जायेगा।” आचार्यश्री की मंगलवाणी को जादू कहें या मन्त्र कहें वह व्यक्ति शीघ्र ही मिरगी रोग के कुचक्र से उबर गया।

श्री सम्पेदशिखरजी यात्रा के संघपति सेठ गेंदनमलजी ने अपना अनुभव बताया कि आचार्यश्री का पुण्य महान् और उत्कृष्ट था। बागड़ प्रान्त के ग्रामीण जन बहुत दुष्ट प्रकृति के होते हैं, परन्तु वहाँ भी निर्विघ्न यात्रा रही। भयंकर उपद्रव होने के निमित्त बने परन्तु महाराजश्री के पुण्य प्रताप से अनायास ऐसे विलीन हो जाते थे, जैसे सूर्योदय से कुहासा नष्ट हो जाता है। कई बार ऐसे प्रसंग प्राकृतिक रूप से उपस्थित हुए कि वर्षा आचार्यश्री के संघ के आगे-आगे होती जाती थी और आचार्य श्री शान्तिपूर्वक गमन करते जाते थे।

आचार्यश्री की तपस्या के मन्दिर का स्वर्णकलश, कुंथलगिरि में देखने को मिला, जहाँ उन्होंने 36 दिन का समाधिकाल व्यतीत किया। प्रतिदिन हजारों लोगों को दर्शन देकर सबको अपना आशीर्वाद देते हुए देखकर ऐसा लगता था कि साक्षात् समवसरण लगा हुआ हो।

आपकी तपस्या का, दिगम्बर मुनि पर्याय में एक कीर्तिमान है। लगभग ग्यारह प्रकार के व्रतों का अनुशीलन करते हुए अपने जीवनकाल में नौ हजार नौ सौ अड़तीस उपवासों को निःशल्य होकर धारण किया। जिन्हें पृथक् से एक परिशिष्ट में दर्शाया गया है। इन उपवासों में आपकी रत्नत्रय से पवित्र देह की आभा कान्तिमान थी।

25.

वानरों पर प्रभाव

आचार्य श्री शान्तिसागरजी एक प्रशम शान्त मूर्ति थे। उनके समता परिणामों के प्रभाव से न केवल नर-नारी शान्ति का अनुभव करते थे वरन् तिर्यञ्च पर्याय के जीव भी उनकी उपस्थिति से अपने जातिगत स्वभाव को भूलकर कुछ समय के लिए शान्त हो जाया करते थे। भावनाओं का यह प्रक्षेपण, उनकी अप्रतिम तपस्या और संत व्यक्तित्व के कारण था।

आचार्यश्री का संघ श्री शिखरजी की तीर्थ वंदना करके 1928 में विन्ध्य प्रदेश की ओर लौट रहा था। विंध्याटवी का घनघोर जंगल चारों ओर था। संघ ऐसी जगह पहुँचा, जहाँ आहार बनाने का समय हो चुका था।

उस स्थान पर वानर सेना का स्वच्छन्द शासन था। ऐसा कोई स्थान नहीं था, जहाँ वानरों से बचकर भोजन तैयार किया जा सके और संघ को यथायोग्य आहार विधि से आहार करवाया जा सके। संघपति सेठ गेंदनमलजी जवेरी के सामने एक बहुत बड़ा धर्मसंकट उपस्थित हो गया, क्योंकि फिर इस स्थान से 14 मील दूर ही ठहरने योग्य स्थान था। लेकिन समय नहीं था कि वहाँ पहुँचा जा सके।

संघपति चिन्तातुर होकर आचार्यश्री के पास पहुँचे और निवेदन किया –“महाराज श्री! यहाँ तो वानरों का बड़ा उपद्रव है। हम लोग किस प्रकार आहारादि की व्यवस्था करें ?”

महाराजश्री ने स्मित भाव से कहा-“तुम लोग शीरा पूड़ी उड़ाते हो। बन्दरों को भी शीरा पूड़ी खिलाओ।” इतना कहकर वे चुप हो गए। उनके चेहरे पर एक निष्काम मुस्कान खिल रही थी।

संघ के श्रावकों ने बड़े यत्नपूर्वक सुरक्षा करते हुए बड़ी कठिनाई से रसोई तैयार की। लेकिन लोग शंकित थे कि कहीं ऐसा न हो कि कोई बन्दर महाराजश्री के हाथों से आहार का ग्रास लेकर भाग जाये। ऐसी स्थिति में आचार्यश्री को अंतराय उपस्थित हो जायेगा।

कोई समाधान श्रावकों को नहीं सूझ रहा था। धीरे-धीरे चर्या का समय आया। महाराजश्री ने शुद्धि की और जैसे ही चर्या के लिए निकले कि सैकड़ों बन्दर अपने आप अप्रत्याशित रूप से शान्त हो गए। लोगों को सुखद आश्चर्य हो रहा था कि कुछ क्षणों में बन्दरों में यह कैसा परिवर्तन हो गया है।

आचार्यश्री का आहार निर्विघ्न समाप्त हुआ। इधर आचार्यश्री आहार करके लौटे और पुनः बन्दरों का उपद्रव शुरू हो गया। आखिर उनसे कैसे निपटा जावे। श्रावक जनों ने बन्दरों को रोटियाँ खिलाना शुरू किया। एक ओर बन्दरों को रोटियाँ डालते जाते थे तो दूसरी ओर वे स्वयं भोजन पानी लेते जा रहे थे।

आत्म विकास का यह अचिन्त्य प्रभाव पहली बार देखने को मिला कि वानर भी अपनी चंचलता को भूलकर महाराजश्री की आहार विधि को चुपचाप देखते रहे, जैसे किसी ने उन्हें मन्त्र कीलित कर दिया हो।

आध्यात्मिक प्रभाव की अनुपम छटा, देखने को बन रही थी। संघ के समस्त सदस्यों में आचार्यश्री का साक्षात् प्रभाव देखकर उनके अलौकिक चारित्र की चर्चा होने लगी।

26. संघपति की दानशीलता

आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज ने सन् 1927 में संघ सहित श्री शिखरजी यात्रा हेतु स्वीकृति देकर संघपति समाज सेवक पूनमचंद घासीलाल जौहरी, बम्बई नं. 2 को आनन्द के सागर में डुबो दिया।

उसके पूर्व आचार्यश्री का संघ दक्षिण भारत में ही विहार करता था, परन्तु भव्यों के पुण्योदय से इस संघ का मंगल विहार उत्तर प्रान्त में हुआ। चतुर्थकाल जैसे मुनि संघ के उत्तर भारत में पदार्पण का समाचार उत्तरवासी लोगों को विशेष आनंद का कारण बना, क्योंकि कई पीढ़ियों से लोगों ने दिगम्बर मुनियों के दर्शन नहीं किए थे।

परमार्थ की भावना से अपनी लक्ष्मी (द्रव्य) का उपयोग करना, बहुत पुण्यवान् व्यक्ति का सोच होता है। संघ संचालक महानुभाव, उदीयमान पुण्यशाली जिनधर्म के प्रगाढ़ श्रद्धालु और आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज के चरणों में अनन्य अनुराग रखने वाले थे। उनके पास कोई करोड़ों रुपयों की पूँजी नहीं थी। हाँ पुण्य की अतुल सम्पत्ति अवश्य थी, जिसके बल पर उन्होंने इस महान् कार्य को पूर्ण करने का संकल्प श्रीचरणों के सान्निध्य में लिया।

कवि मनरंगलाल ने लिखा है -

“जाके धन तेरे चरन दोय, ता गेह कमी कबहूँ न होय।”

सेठ घासीलाल जौहरी व उनके ज्येष्ठ पुत्र सेठ गेंदनमल जी ने सोचा होगा कि दान देने के लिए आचार्य श्री शान्तिसागरजी से बढ़कर विशुद्ध चरित्र रत्नत्रयालंकृत श्रेष्ठ पात्र और कौन मिलेगा? अतः उनकी सेवा में शक्ति की परवाह न करके धन को मुक्त हस्त होकर लगा दो। सेठ घासीलाल गेंदनमलजी जौहरी मुक्ता के व्यापारी थे। उनका हस्त तो सदैव मुक्ता युक्त रहता ही था। आज मुक्तहस्त हो गया।

सम्यग्दृष्टि पुण्यवान की लक्ष्मी सदैव पुण्य कार्यों में लगती है। धनवान होना महत्त्वपूर्ण नहीं है। परन्तु धनवान का पुण्यार्जक होना महत्त्वपूर्ण है। धन कमाने और उसे तिजोरियों में भरने का नशा तो हर किसी को होता है, परन्तु धन खर्च करने का नशा विरले पुण्यशाली व्यक्तियों में देखा जाता है।

संघपति सेठ गेंदनमलजी कितनी विनम्रतापूर्वक संघ विहार के लिए प्रार्थना करते और नोटों का बंडल, व्यवस्था करने वालों को निस्पृह भाव से सौंपते जाते थे। न वे नोट गिनते थे और न ही उन श्रावकों से कोई हिसाब या बिल मांगते थे। जैसा कि धनिकों में होता है-वह उनके व्यवहार में नहीं था। उनका विश्वास था कि प्रारम्भ में (1903) उनके पास मात्र कुछ सहस्र रजत मुद्रायें ही थीं। बस वही उनकी मूल पूँजी थी। बाकी पूँजी व्यापार के द्वारा अपने मधुर स्वभाव, मीठी वाणी, सच्चाई, प्रामाणिकता और साख के बल पर समुद्र पार अरबस्तान से वाणिज्यिक सम्बन्ध स्थापित करके अर्जित की गई है।

“पूँजी पुण्य की चेरी होती है।” यह निर्लिप्त भाव उसके संयम, धर्म और मुनि भक्ति में कारण बना।

वे सदैव सोचते थे कि रत्नाकर से प्राप्त रत्नों की कमाई को रत्नत्रय के आगार महामुनि रत्नाकर की अर्चना के निमित्त व्यय कर देना, इसमें हमारा क्या है?

“रत्नाकर! त्वदीयं वस्तु, तुभ्यमेव समर्पये।”

आगे चलकर शिखरजी में संघपति ने पञ्चकल्याणक महोत्सव में लाखों रुपये लगाये तथा संघ के समीप बहुत समय तक व्यापारादि से निवृत्त होकर रहे। परन्तु लोगों को यह भ्रम हो सकता है कि इससे उनकी सम्पत्ति कम हो गई होगी। आचार्यश्री के चरण पकड़ने वालों का आत्मिक अभ्युदय के साथ भौतिक वैभव का अभ्युदय भी हुआ। यह सेठ गेंदनमलजी के दिन दूनी रात चौगुनी धनवृद्धि से स्पष्ट हो गया कि कूप का जल जितना लिया जाता है—पुण्य स्रोत उसमें, उससे ज्यादा जल देता जाता है। कूप खाली नहीं होता।

•

27.

आचार्य श्री का अप्रतिम प्रभाव

सच्चे संत के साथ एक महान् आत्मबल होता है। उस आत्मबल से वह संकट विमोचक बन जाता है। संकट असातावेदनीय कर्म के उदय से होता है। जो सर्वकल्याण की भावना से अभिप्रेरित होता है उसके असाता भी साता में संक्रमित हो जाते हैं। आचार्यश्री शान्तिसागरजी महाराज संकटों और परिषहों को अपने समता परिणामों से पराजित कर संकट विमोचक बन गये थे।

आचार्यसंघ बिलहरी (जबलपुर) से पिपरौध गाँव की ओर प्रस्थान करने को तैयार था, तभी एक यात्री ने सूचित किया—“महाराज! रास्ते में एक भीषण सर्प है, वह जाने वाले राहगीर का पीछा करता है, अतः रास्ता बहुत खतरनाक है।”

लोगों की चिन्ता स्वाभाविक थी। श्रावक जनों की इच्छा थी कि महाराज किसी दूसरे रास्ते पर चलने की आज्ञा दें। प्राणों का मोह किसे नहीं होता? क्रुद्ध सर्प का सामना—न जाने कौन—सी घटना घटित हो जाये?

लोगों का आत्म विश्वास यहाँ कुछ समय के लिए लड़खड़ाने लगा। वे यह भूल रहे थे कि संघ ऐसे पवित्र चरणों का अनुगमन कर रहा है, जिसने कई बार भयंकर सर्पों से साक्षात्कार ही नहीं किया, वरन् जिनके शरीर पर अनेक बार सर्प ने चढ़कर उपद्रव किये परन्तु वे

अडिग साधना/सामायिक रत रहे। वे कोई सामान्य व्यक्ति नहीं हैं।

शान्ति के सागर उन महान् आचार्य ने यह सुना तो जरा भी विचलित नहीं हुए। उनके चेहरे पर चिन्ता या अशान्ति की एक रेखा भी नजर नहीं आयी। आचार्यश्री ने कहा- “आप घबरायें नहीं। उसी रास्ते से चलना है।” आचार्यश्री की आज्ञा हुई और संघ निशंक भाव से आगे बढ़ा।

महाराजश्री के महान् पुण्य प्रभाव से वह सर्प उस समय बाँस बिडे में सो रहा था। रास्ता निष्कंटक कट गया।

सही है - जिनेन्द्र भगवान् के वचनों पर श्रद्धा रखने वालों के संकट क्षणभर में टल जाते हैं।

मानतुंगाचार्य महाराज ने भक्तामरस्तोत्र में यही भावना व्यक्त की है - “हे भगवन्! जिस पुरुष के हृदय में आपकी नाम रूपी नागदमनी औषधि विद्यमान है, वह शंका रहित हो, क्रोध युक्त लाल नेत्र वाले कोयल के कंठ समान काले वर्ण वाले, फन उठाये सर्पराज को अपने पैरों से लांघ जाता है।”

पवित्र आत्मा का अपना अप्रतिम/विलक्षण प्रभाव होता है। संकट ऐसी आत्मा की सन्निधि में टिक नहीं पाता।

गुरु भक्त शिरोमणि सेठ चन्दूलाल सर्राफ ने एक घटना पण्डित (स्व.) सुमेरुचन्द दिवाकर को सुनाई थी।

आचार्यश्री का विहार महाराष्ट्र के प्रसिद्ध अहमदनगर की ओर हो रहा था। रास्ते में राहुरी स्टेशन था। संध्या हो चली थी और संघ के अन्य सदस्य उस ग्राम में रात्रि व्यतीत करना चाह रहे थे किन्तु आचार्यश्री ने लोगों की प्रार्थना अनसुनी करके बहुत आगे बढ़ गये। अतः सभी

लोगों को महाराज की सेवार्थ वहाँ पहुँचना पड़ा।

कुछ समय पश्चात् उस ग्राम में ऐसी भीषण वर्षा हुई कि कोई घर ऐसा नहीं बचा जो बाढ़ की चपेट में न आया हो। सारे घर उस पूर में बह गये।

दूसरे दिन आचार्यश्री से पूछा - “महाराजश्री! क्या आप भविष्य दृष्टा हैं, जो आपको वर्षा का पूर्वानुमान हो गया था।” महाराज ने कहा - “नहीं! मैं कोई भविष्यदृष्टा नहीं हूँ। हाँ! ऐसे अवसर पर हमारी आत्मा जो बोलती है, हम वैसा ही करते हैं। आप लोगों की प्रार्थना के बावजूद हमारी आत्मा, वहाँ विश्राम करने को राजी नहीं थी, अस्तु मैंने वहाँ ठहरना उचित नहीं समझा था।”

सही है - पवित्र आत्मा की आवाज जीवों की उपकारक होती है। ऐसी आत्मा के शरणागत को क्या संकट हो सकते हैं?

आत्मज्ञ! अनूटे। निराले व्यक्तित्व वाले होते हैं।

जो रुढ़ि या लोक का अनुशरण न करके आत्मा की आवाज पर अपनी साधना को आगे बढ़ाते हैं, वे देवज्ञ होते हैं।



28.

भविष्यदृष्टा आचार्य श्री

आत्मा का विकास मोहनीय कर्म के कारण अवरुद्ध है। मोहनीय कर्म सम्यक्त्व के साथ-साथ चारित्र को भी बाधित करता है। राग-द्वेष जहाँ है, वहाँ चारित्रमोह है। चारित्रमोह के होने पर वैराग्य के भाव नहीं हो पाते। बिना वैराग्य के आत्मा पवित्र नहीं हो पाती। मोह रहित अल्पज्ञान भी सर्वज्ञता को प्राप्त करा देता है, परन्तु सर्व शास्त्रों में पारंगत होते हुए भी, वैराग्य के बिना मोक्ष नहीं पाया जा सकता। मोक्ष अर्थात् जहाँ मोह का क्षय हो जाये। मोह के क्षय हो जाने से, राग-द्वेष रूप विकृति से, आत्मा विलग हो जाती है। ऐसी आत्मा, पवित्र/विशुद्ध होकर ज्ञानालोक में विहार करने लगती है।

आचार्य श्रीशान्तिसागर महामुनिवर की आत्मा विशुद्धता को प्राप्त हो जाने से भविष्य के गर्भ में छिपी अनेक रहस्यमय बातों का वे पूर्वानुमान कर लिया करते थे। उनकी वाणी में सिद्धि और प्रामाणिकता आ चुकी थी।

घटना 1947 की है, जब आचार्यश्री का चातुर्मास सोलापुर में सम्पन्न हो रहा था। एक दिन पर्युषण पर्व के समय उनके मुख से अनायास ही ये शब्द निकल पड़े-“ये रजाकार लोग हैदराबाद रियासत में बड़ा पाप और अनर्थ कर रहे हैं।” इनका अत्याचार सीमा को लांघ रहा है। इसको समाप्त होने में अब तीन दिन से ज्यादा समय नहीं

लगेगा। महाराजश्री की यह वाणी ठीक तीन-चार दिन बाद सत्य साबित हुई। प्रसंग यह हुआ कि सरदार वल्लभ भाई पटेल के नेतृत्व में (तत्कालीन गृहमन्त्री) भारत सरकार ने पुलिस कार्यवाही करके हैदराबाद राज्य पर आक्रमण कर दिया और तीन दिवस के भीतर ही हैदराबाद ने भारत सरकार के सामने घुटने टेक दिए।

पण्डित सुमेरुचन्द्रजी दिवाकर साहब के समक्ष उक्त कथन आचार्यश्री ने व्यक्त किए थे। अस्तु, इस विजय अभियान के पश्चात् पण्डित जी ने आचार्यश्री से कहा -“भगवन्! आपके श्रीमुख से हैदराबाद के सम्बन्ध में जो भाव निकले थे, वे सत्य साबित हुए। आप तो राजनीति की हलचल/प्रतिक्रिया से दूर रहते हैं, फिर आपको यह सब कैसे पता चला कि इसका भविष्य कुछ दिन का रह गया है।” महाराजश्री ने बड़े सरल/सहज रूप से कह दिया -“हमारा जैसा हृदय बोला, वैसा हमने कह दिया।” संत के वचन खाली नहीं जाते।

इसी प्रकार सन् 1948 में माह जनवरी में ही आचार्यश्री ने अपने शिष्यों के बीच अप्रत्याशित रूप से कह दिया कि हमारा हृदय कहता है कि देश में निकट भविष्य में कोई भयंकर अनिष्ट घटित होगा और इसके दो चार दिन बाद ही नाथूराम गोडसे ने महात्मा गाँधी की नृशंस हत्या कर दी थी।

महाराजश्री के ज्ञान में ऐसी अनेक भावी घटनाएँ स्वतः ही झलक जाया करती थीं। श्रुतज्ञान का विषय बड़ा ही विस्तृत है। वह निमित्तज्ञान के द्वारा भविष्य को वर्तमान के पटल पर अनुभव कर लेता है। तपश्चर्या का ऐसा अचिन्त्य प्रभाव होता है। उससे वचन-सिद्धि और भावसिद्धि सहज ही प्राप्त हो जाती है।

•

29.

ललितपुर में आचार्य वर्षायोग

सन् 1929 में आचार्य श्री शान्तिसागरजी का चातुर्मास, कटनी के पश्चात् ललितपुर (क्षेत्रपालजी) में हुआ। आचार्यश्री शान्तिसागरजी लोकोत्तर व्यक्तित्व के धनी थे। महान् तपस्वी और आगम को अक्षरशः जीवन में उतारने वाले परम योगी थे।

ललितपुर आने पर आचार्यश्री ने सिंहनिष्क्रीडित तप किया था, जो इस विषमकाल में बहुत कठिन व्रत था।

इस उग्र तप से आचार्यश्री का शरीर बहुत कमजोर हो गया था। उसी समय आचार्यश्री को ज्वर का प्रकोप सताने लगा। 104° - 105° ज्वर में उपवास की साधना, एक बूँद जल ग्रहण नहीं करना और 15-15 दिन लगातार उपवास करना कल्पनातीत लगता था। आचार्यश्री ने एक जगह लिखा था -“जो जीव अज्ञान से अत्यन्त भीषण पाप कर्म का बंध करता है, वह उपवास से उसी प्रकार भस्म कर देता है जैसे अग्नि के द्वारा ईंधन भस्म हो जाता है। उपवास करते हुए उनकी धार्मिक क्रियाओं में जरा भी कमी या प्रमत्त भाव नहीं आ पाता था।”

तिलोयपण्णत्ति में लिखा है -“भरतक्षेत्र में बहुत काल तक वैराग्य की भावना करके संयम से युक्त मुनिराज लौकान्तिक देव होते हैं। सम्यक्त्व युक्त श्रमण जो निन्दा और स्तुति में, सुख-दुःख में तथा लाभ-अलाभ में समदृष्टिधारी हैं, वे लौकान्तिक देव होते हैं।”

आचार्यश्री की आध्यात्मिक दृष्टि इतनी पारगामी एवं उज्वल हो चुकी थी कि वे देह और उसके विषय से पूर्णतः निरपेक्ष, निरवद्य और निर्द्वन्द्व बन चुके थे। अस्तु ऐसे श्रमण लौकान्तिक देव होते हैं। लम्बे उपवासों के विषय में विद्वत् रत्न पं. सुमेरुचन्द्रजी दिवाकर ने उनसे चर्चा की तो उन्होंने यही कहा था-“मंगलं शरणो महावीरो” मेरे लिए भगवान् महावीर प्रभु ही एक मात्र शरण होता है।

पण्डितजी ने पूछा -“ऐसे लम्बे उपवासों के समय आपकी निद्रा का क्या हाल रहता है?” महाराजश्री का उत्तर था -“नींद नाम मात्र को आती है। उस समय हम आत्मा का चिन्तन/ध्यान करते हैं। पदार्थों की ओर चित्त स्वयं नहीं जाता है।” जो शरीर से निर्ममत्व हो जाते हैं, वे ही लम्बे उपवासों की साधना कर पाते हैं। यही कारण था कि भयंकर ज्वर में भी आचार्यश्री का मुखमण्डल अपूर्व आभा और तेजोमय दीप्ति से युक्त रहता था।

जितेन्द्रिय में अद्भुत शक्ति विद्यमान रहती है।

आहार त्याग देने से मन बाह्य विषयों की ओर नहीं जाता। वह समग्र रूप से आत्म नियंत्रण में रहता है, जिससे आत्म चिन्तन में एक अलौकिक आनंद की प्राप्ति होने लगती है। उपवास की अग्नि में बड़े पाप भी भस्म हो जाते हैं।

•

30.

शंका के सागर में समाधान के मोती

आचार्यश्री का संघ भारत की राजधानी दिल्ली में पदार्पित हुआ तो दिल्ली की जैन समाज अत्यन्त हर्षित हुई। राजधानी वासियों ने ऐतिहासिक जुलूस के द्वारा आचार्यश्री के संघ का भक्तिभाव से भव्य स्वागत किया।

दिल्ली महानगर में आचार्यश्री की महान् तपस्या की गौरव गाथा बहुचर्चित हो गई। प्रबुद्ध नागरिकों के अलावा उच्चाधिकारी उनके दर्शनार्थ आते थे।

लोगों ने प्रथम बार ऐसे महान् दिग्म्बर मुनि के दर्शन किए थे। उनके मन में अनेक जिज्ञासाओं और शंकाओं की तरंगें उठने लगीं। उनकी दैनिक चर्चा ही लोगों के कौतुहल का विषय था।

एक दिन भद्र स्वभाव वाला अंग्रेज आचार्यश्री के दर्शन करने आया। उसने आचार्यश्री से प्रश्न किया-“महाराज! आपने संसार क्यों छोड़ा? क्या संसार में रहकर शान्ति प्राप्त नहीं की जा सकती?” महाराज ने समझाया-पदार्थों के प्रति आसक्ति ही संसार है। जितनी मन में आसक्ति होती है, उतना परिग्रह (पदार्थों का समुच्चय) हमारे पास निर्मित हो जाता है। इस परिग्रह के द्वारा ही मन में चंचलता तथा राग-द्वेष रूपी भाव (विकार भाव) उठते हैं। जैसे हवा के चलने से दीपक की लौ अस्थिर बनी रहती है। उसी प्रकार रागद्वेष की भाव तरंगों के द्वारा मन

अशान्त बना रहता है। इन्हें छोड़ने पर ही मन शान्त हो सकता है। मन की शान्ति से आत्मा शान्त हो जाती है। यह मानसिक शान्ति निर्मल और पवित्र जीवन से प्राप्त होती है। आसक्ति से मन मलिन बनता है और मलिन मन ही पाप का संचय करता है। संसार के परिग्रह के साथ आत्मा की साधना निर्विघ्न नहीं हो सकती। इसके लिए विषय भोगों का त्याग आवश्यक है।

आचार्यश्री की ऐसी मार्मिक अनुभवपूर्ण वाणी सुनकर अंग्रेज अत्यन्त हर्षित हो नतमस्तक हो गया। राजधानी होने से बड़े-बड़े जज, बैरिस्टर, प्रोफेसर तथा राजनीतिज्ञ लोग अपने संदेहों एवं शंकाओं का समाधान पाने के लिए गुरुदेव के चरणों के सामीप्य में आकर बैठते थे।

आचार्यश्री का संघ चारित्र और तपस्या के कारण अपूर्व प्रभावना का कारण बन गया था। हर वर्ग का व्यक्ति आचार्यश्री की वाणी सुनकर अत्यन्त प्रभावित हो जाया करता था।

एक दिन उन्होंने दर्शनार्थ आये मुस्लिम भाईयों से कहा-“भाई! जीवों की दया पालने से वह व्यक्ति सुखी होता है और उन्हें मारकर खाने से वह अत्यन्त दुःखी होता है।” इस करुणामयी वाणी को सुनकर बहुत से मुसलमानों ने माँस सेवन का त्याग कर दिया। सैंकड़ों हरिजनों ने आचार्यश्री की प्रभाव पूर्ण वाणी को सुनकर शराब का, माँस के सेवन का त्याग कर दिया।

इसी प्रकार अलवर में एक ब्राह्मण प्रोफेसर ने बड़ी ही भक्ति पूर्वक यह शंका की कि महाराज! क्या दुग्धपान मूत्रपान के समान नहीं है?

महाराज ने बड़े शान्त भाव से कहा-“गाय के पेट में दूध का कोठा तथा मल-मूत्र का कोठा अलग-अलग है। दूध में रक्त या माँस का सम्बन्ध नहीं है।”

महाराजश्री ने प्रोफेसर साहब से एक प्रति प्रश्न किया-“ क्या आप गंगाजल पीते हैं ?” प्रोफेसर ने स्वीकारोक्ति की ।

महाराजश्री ने कहा-“ नदी में मछली तथा अन्य जलीय जीवजन्तु होते हैं, जिनका मलमूत्र उसी जल में मिश्रित होता जाता है। फिर भी आप उसे पवित्र मानकर पीते हो, जबकि दूध के कोष और मूत्र के कोष पृथक्-पृथक् होते हुए भी एक जैसा मानते हुए, यह कहाँ का न्याय है ?”

यह सुनकर आगन्तुक विद्वान् मौन हो गए और संदेह का शल्य उनके मन में निकल गया ।

महाराजश्री ने आगे कहा-“ गाय या भैंस में उसके बच्चे की आवश्यकता से अधिक दूध होता है। अतः इस भ्रान्ति को दूर कर लेना चाहिए कि इस पर बच्चे का अधिकार ही है।”

एक ने शंका व्यक्त की -“ महाराज! क्या केशलोंच से शरीर को कष्ट का अनुभव नहीं होता ?

महाराजश्री ने कहा -“हाँ! होता है, जब तक शरीर में एकत्व बुद्धि बनी रहती है।” “तो क्या भेद बुद्धि हो जाने से यह कष्ट दूर हो जाता है ?” महाराजश्री ने कहा-“हाँ! क्या चूल्हे में लकड़ी जलाने से तुम्हारा शरीर जलता है ? शंकाकार ने कहा- नहीं जलता।”

“ठीक इसी प्रकार शरीर को पीड़ा होने पर आत्मा का कुछ नहीं बिगड़ता है। साधु को शीत और ग्रीष्म ऋतु में क्रमशः शीत और उष्णता का अनुभव भी होता है परन्तु वह दुःखी नहीं होता है। शान्त भाव से उसको सहने की क्षमता अपने आत्मबल से पैदा कर लेता है।”

इसी प्रकार आचार्यश्री के समाधान बहुत प्रामाणिक और सटीक होते थे।

•

31.

लोकोत्तर मानस्विता

- मन को स्वात्म हित की ओर लगाये रहना, यह लोकोत्तर मनस्विता वाले श्रमण संतों की साधना का एक अंग होता है। मन की प्रवृत्ति/स्वभाव चंचल होता है। बंदर जैसा चंचल यह मन होता है। मन को संयम की ओर लगाये रहना, कहीं चूक न होने देना, यह श्रमण की चर्या में समाहित होता है।
- मन ही संसार का सृजन करता है और मन ही बन्धुओं से निर्मुक्त होकर मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है।
- मन को जीतने वाला आत्म-जयी कहलाता है।
- संसारी मन के वश में रहता है, मन को वश में रखता है। अपने संयमाचरण से मन को बाँधे रहना, मन को स्वच्छन्द नहीं होने देना यह दिगम्बर मुनियों के वश की बात होती है। मन का स्वल्प इतनी जल्दी हो जाता है कि साधक को उसका परिज्ञान ही नहीं हो पाता। लेकिन जो साधना में परिपक्व हो जाते हैं, वे अपने मन के मालिक बन जाते हैं। मन का गुलाम संसारी जन होता है, परन्तु महामुनि अपने मन को गुलाम बनाकर रखते हैं। वे आत्मजयी मन को अपने ऊपर हावी नहीं होने देते और यदि कहीं थोड़ी भी चूक हो जाती है तो तत्काल प्रायश्चित्त लेकर उसका परिमार्जन कर लेते हैं।

घटना नसलापुर की है। उस समय आचार्यश्री मुनि अवस्था में वहाँ विराजमान थे, मुनिराज आदिसागर शेडवाल उस समय गृहस्थावस्था में श्री बालगौड़ा देवगौड़ा पाटील के नाम से विश्रुत अत्यन्त धर्मपरायण एवं मुनिभक्त श्रावक थे। अपने कुछ मित्रों के साथ वे चिक्कोड़ी (बेलगाँव) से मुनिराज शान्तिसागरजी के दर्शनार्थ गए और प्रार्थना की। हे स्वामिन् ! हम सभी गृहस्थ जनों को परोक्ष में भी इस दिगम्बर मुद्रा के दर्शन लाभ का पुण्य प्राप्त होता रहे, अस्तु आप फोटो खिंचवाने की स्वीकृति प्रदान करें।

फोटोग्राफर बुलाया गया। उस समय फोटो खिंचवाना एक विशेष बात हुआ करती थी।

फोटोग्राफर महाराज के पास आया और महाराजश्री से बोला— “महाराज! अच्छी फोटो के लिए यह स्थान ठीक नहीं है। दूसरा अच्छा स्थान है वहाँ चलने की कृपा करें।” महाराजश्री एक बार स्वीकृति देकर बचनबद्ध हो चुके थे। उन्होंने फोटोग्राफर के संकेतानुसार कार्य किया। जिस प्रकार खड़े रहने को उसने कहा उस स्थिति में महाराज श्री ने फोटो खिंचवा ली।

परन्तु इसके बाद एक विचित्र बात हुई।

महाराजश्री कई वर्षों से आहार में केवल जल, चावल और दूध ही ले रहे थे। अपनी फोटो खिंचवाने की मनोवृत्ति को स्वयं को शिक्षा देने हेतु उन्होंने एक सप्ताह के लिए दूध का त्याग कर दिया और दूसरे दिन आहार में केवल चावल और जल ही ग्रहण किया।

महाराज ने बताया कि, हमारे मन ने फोटो खिंचवाने की स्वीकृति दे दी थी, जिससे हमें अनेक प्रकार की पराधीनता का अनुभव हुआ

और फोटोग्राफर के अनुकूल हमें कार्य करना पड़ा। अस्तु अपनी भूल का प्रायश्चित्त करने हेतु और मन पुनः ऐसी बातों के लिए उत्साहित न हो इसलिए मैंने दूध का त्याग कर दिया है।

जब नसलापुर चातुर्मास में मुनिराज से चर्चा के समय यह प्रार्थना गृहस्थों ने भी की, कि महाराज आप केवल दूध एवं चावल ही क्यों लेते हैं। क्या अन्नाहार या अन्य पदार्थ ग्रहण करने योग्य नहीं है? महाराज ने स्मित भाव से कहा – गृहस्थ आहार में जो वस्तु देता है, वह ग्रहण कर लेते हैं। तुम लोग अन्य पदार्थ देते नहीं अस्तु हमारे लेने की बात उठती ही नहीं।

दूसरे दिन आहारचर्या में श्रावक मुनिराज को दाल-रोटी और हरी सब्जी देने उनके कर-पात्र में देने को ज्यों ही उद्यत हुए, अंजुलि बंद कर ली। आहार के पश्चात् लोगों ने पुनः निवेदन किया –महाराज। आपने तो पूर्ववत् आहार ग्रहण किया है। रोटी आदि ग्रहण नहीं की।

महाराज ने पूछा –“आपने आटा कब पीसा था, कैसा पीसा था।”

ज्ञात हुआ – आटा रात्रि में पीसा गया था।

मुनिराजों को ऐसा आहार न देना चाहिए और न मुनि को लेना चाहिए।

पन्द्रह दिनों तक श्रावकों को आहार योग्य वस्तुओं का विधान बताया, तब जाकर उन्होंने अन्य शुद्ध भोज्य पदार्थों का लेना प्रारम्भ किया और आठ दस-वर्ष से दूध और चावल लेने का क्रम यहाँ बन्द कर दिया।

32.

वृत्ति परिसंख्यान तप

- सच्चा साधु स्वादु नहीं होता है।
- वह चार प्रकार के बाह्य तप द्वारा अपने आहार का आगमानुकूल लेकर आहार के प्रति गृह्यता का भाव लेशमात्र नहीं करता। अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान और रस परित्याग तपों का अनुशीलन करके अनेक कर्मों की निर्जरा का पुरुषार्थ करता है।
- साधु प्रतिदिन आहारचर्या के समय अपने को कसौटी पर कसता है कि उसकी आसक्ती का कितने अंश तक निर्मूलन हो पाया है। वह वृत्तिपरिसंख्यान तप के द्वारा आहार को जाते समय घर, गली, गृहस्थ-श्रावकों द्वारा पड़गाहन के लिए, अपनाये गये कलश, माला, फल आदि साधनों का अटपटा-सा नियम लेकर अपने लाभान्तराय कर्म का परीक्षण करता है।

कौत्रूर में आचार्यश्री ने एक दिन बड़ी विलक्षण प्रतिज्ञा ली। छह दिनों तक ली गई प्रतिज्ञा के अनुसार योग न मिलने से महाराज श्री के छह उपवास हो गये।

वे प्रतिदिन आहारचर्या को उठते और नगर परिभ्रमण कर शान्त भाव से वापस अपने उपाश्रय में आ जाते।

इतने दिनों से वे आहार योग्य विधि न मिल पाने से श्रावक-जन बहुत चिन्तित होने लगे। जैसे-आदिनाथ भगवान् को छह माह तक

आहार नहीं मिल पाया था, क्योंकि उस समय भोले जन दिगम्बर मुनि को आहार देने की विधि ही नहीं जानते थे। कुछ वैसा ही दृश्य कौत्रूर में उपस्थित हो गया था।

सातवें दिन लाभान्तराय कर्म का विशेष क्षयोपशम होने से एक गरीब गृहस्थ भीमप्पा के द्वारा पर श्री गुरुदेव को अनुकूल पड़गाहन की विधि प्राप्त हो गई। आज भीमप्पा की गरीबी-वरदान साबित हो गई। उसने निर्धनतावश पीतल धातु का बड़ा कलश न होने के कारण मिट्टी के घड़े पर नारियल रखकर आचार्यश्री का पड़गाहन किया। महाराज का नियम था कि यदि मिट्टी के बर्तन पर नारियल रखकर कोई पड़गाहग करेगा तभी आहार लूँगा। धन्य है मुनि का ऐसा कठिन तप। अपनी रसना इन्द्रिय और भूख-तृषा परिषह को कितने शान्त परिणामों से सहन करते हुए अपनी प्रतिज्ञा पर अडिग रहे।

भीमप्पा ने सातवे दिन महाराजश्री को आहार देने का अतिशय पुण्य अर्जित किया।

अनेक घटनाएँ आचार्यश्री की वृत्तिपरिसंख्यान तप से सम्बन्धित पढ़ने को मिली।

सन् 1930 में शीतकाल में आचार्यश्री ग्वालियर पहुँचे। कड़ाके की ठण्ड पड़ रही थी। आचार्यश्री ने प्रतिज्ञा की कि यदि कोई गीले वस्त्र पहन कर पड़गाहन करेगा तो आज आहार लूँगा।

श्रावकों के दरवाजे पहली बार और दूसरी बार गमन करते हुए आचार्यश्री निकल गये परन्तु योग्य विधि के अभाव में श्रावकों को घोर निराश होना पड़ा। जब आचार्यश्री तीसरी व अंतिम बार गमन करते हुए लौट रहे थे, अचानक एक श्रावक गीले वस्त्र से उन्हें पड़गाहन कर रहा

था।

वस्तुतः हुआ यह था कि उसके वस्त्र अन्य लोगों द्वारा स्पर्श कर लिए गये थे। जिससे वे अशुद्ध हो गये थे। जब श्रावक को यह मालूम हुआ कि आचार्यश्री पुनः इस ओर आ रहे हैं तो उसने तत्काल पानी ऊपर डालकर गीले वस्त्रों से पड़गाहन के लिए खड़ा हो गया।

आचार्यश्री के वृत्ति परिसंख्यान तप के द्वारा समाज सुधार की भी दृष्टि रहती थी।

बेलगाँव, कोल्हापुर आदि की ओर के जैन श्रावक मिथ्यात्व के चक्कर में फँसे हुए थे। अतः आचार्यश्री ने प्रतिज्ञा की थी कि जो मिथ्यात्व का त्याग करेगा उसी के हाथ से आहार लूँगा, क्योंकि जिसके मिथ्यात्व है, उसके प्रथम श्रद्धा गुण का अभाव होता है, दाता के सात गुणों में प्रथम गुण श्रद्धा है। श्रद्धा का अभाव होने से उसमें शेष षट् गुण कैसे प्रवर्तमान रह सकते हैं ?

जब आचार्यश्री का दक्षिण से उत्तर भारत की ओर प्रस्थान हुआ तो उन्होंने यह अनुभव किया कि यहाँ खान-पान में हीनाचरण और हीन संस्कार के कारण शिथिलाचार है। घरों में माँसादि का सेवन करने वाले नौकर-चाकर भोजनशाला का पानी लाते हैं। भला महाव्रती साधु ऐसे जल से निर्मित आहार कैसे ग्रहण कर सकता है ?

आचार्यश्री दूरदृष्टा और पारगामी दृष्टि से सम्पन्न श्रमण थे। उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली कि वे शूद्रजल त्यागी के हाथ से ही आहार ग्रहण करेंगे। इस प्रतिज्ञा में उनका यही भाव विद्यमान था कि घरों में जल की शुद्धता का विवेक रखा जाये।

•

33.

दिव्यदृष्टि

- ध्यान, आत्मा को निर्मल/ प्रांजल बनाता है।
- ध्यान की एकाग्रता से अन्तःकरण दर्पण के समान स्वच्छ हो जाता है।
- ध्यान में जितनी गहरी एकाग्रता होती जाती है, इन्द्रियाँ उतनी ही आज्ञाकारिणी हो जाती हैं।
- ध्यान करने से ध्याता सम्यक् बोध को प्राप्त होता है और सम्यक् बोध से दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है।

एक बार आचार्यश्री से एक श्रावक ने पूछा था -“ आचार्य श्री! आप किस प्रकार आत्म ध्यान जैसा महान् कार्य सरलतापूर्वक कर लेते हैं।” आचार्यश्री का उत्तर था -“ यह एक जन्म में साध्य नहीं होता। अनेक जन्मों की साधना/अभ्यास से ही आत्मध्यान सरल हो पाता है। पहले मन को स्थिर करने के लिए स्फटिक की बनी जिनेन्द्र मूर्ति का ध्यान करना चाहिए। इससे आत्मा स्फटिक की तरह विशुद्ध और निर्मल बनती है।”

घटना 1932 की है, जब आचार्यश्री का चातुर्मास जयपुर में व्यतीत हो रहा था। उसी समय दक्षिण भारत में कुड़ची मन्दिर के लिए मूर्ति लेने हेतु वहाँ के पंचों ने ब्र. बंडू रत्न को जयपुर भेजा।

ब्रह्मचारी ने आचार्यश्री के पास आकर पंचों की अभिलाषा

व्यक्त की और कहा कि उन्होंने पूज्य गुरुदेव की इच्छानुसार मूर्ति लेने का भाव किया है।

महाराजश्री ने कहा—“क्या वहाँ भगवान् महावीर की मूर्ति विराजमान है ? हमें भगवान् महावीर की मूर्ति वहाँ ध्यान में नजर आ रही है। अच्छा हो एक बार तार देकर पुनः पंचों की राय जान लो।”

पंचों को तार दिया गया। वहाँ से उत्तर आया – भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा लाना। आचार्य श्री ने कहा – अच्छा हुआ पंचों की राय जान ली। हमें वहाँ भगवान् महावीर की मूर्ति दिखती थी। अब तुम पंचों की भावना के अनुसार भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्ति का निर्माण करवाओ।

शिल्पी को आदेश दिया गया और उन्होंने पार्श्वनाथ की प्रतिमा बना दी किन्तु प्रतिमा जी का फन खण्डित हो गया। तार द्वारा यह समाचार कुड़ची भेजा गया तो उन्होंने पुनः कहा जो मूर्ति तैयार मिले, उसे ही भिजवा दी जावे।

तैयार मूर्ति भगवान् महावीरस्वामी की ही थी जिस पर सिंह का चिह्न अंकित था। शिल्पी ने मूर्ति भिजवा दी। कुड़ची के लोगों को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि प्रतिमा भगवान् महावीर स्वामी की थी।

जयपुर के लोगों को जब यह ज्ञात हुआ कि वहाँ महावीर स्वामी की मूर्ति पहुँच गई है तो लोगों ने कहा – यह बात आचार्यश्री ने पहले ही कही थी कि हमें महावीर स्वामी की मूर्ति दिखती है।

यह थी ज्ञान की निर्मल परिणति इसे दिव्यज्ञान कहें या दिव्यदृष्टि, जिसका आत्मचिंतन आचार्यश्री ने पूर्व में ही कर लिया था।

•

34.

भीष्म प्रतिज्ञा

बम्बई सरकार ने हरिजनों के उद्धार के लिए हरिजन मन्दिर प्रवेश कानून 1947 में बनाया। उस कानून में हिन्दू शब्द में जैन को समावेश कर लिया गया। इस कानून का आश्रय लेकर सांगली के हरिजन सेवा संघ ने 4 अगस्त, 1948 को कुछ शूद्रों को एकत्रित कर जबरदस्ती से जैन मन्दिर में ले जाने का षड्यंत्र रचा।

आचार्यश्री की अंतरात्मा ने इसके विरुद्ध कड़ा कदम उठाने का संकल्प लिया क्योंकि इसे चुपचाप सहन कर लिया तो मन्दिर प्रवेश के नाम पर जिनमन्दिरों के अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लग जायेगा।

इतिहास इसका गवाह है – फलटण के ऐतिहासिक जैन मन्दिरों को जब्रेश्वर नाम देकर, कोल्हापुर के जैन मन्दिरों को हिन्दू मन्दिर बनाकर विष्णुदेव विराजित किये, मैसूर का चामुण्डी जैन पर्वत, हिन्दू मन्दिर के रूप में परिवर्तित किया गया।

आचार्यश्री ने इस संकट के परिहार के लिए जिनेन्द्र प्रभु के समक्ष प्रतिज्ञा की कि जब तक मुम्बई के उक्त कानून से उत्पन्न संकट जिन मन्दिरों से दूर नहीं होता, तब तक वे अन्न ग्रहण नहीं करेंगे।

इस समाचार ने सम्पूर्ण जैन समाज में चिन्ता का ज्वार भाटा उत्पन्न कर दिया। पण्डित रत्न सुमेरुचन्द दिवाकर, सरसेठ भागचंद सोनी और सेठ राजकुमारजी इन्दौर के साथ फलटण पहुँचे और आचार्यश्री को इतनी कठोर प्रतिज्ञा न करने की प्रार्थना की। श्री तलकचंद शाह ने

कहा - महाराज कानून और राजनीति की प्रक्रिया मंदगति से आगे बढ़ती है। समय साध्य होने पर भी सम्पूर्ण समाज पूरी शक्ति/ एकजुटता से इस सम्बन्ध में प्रयास और उद्यम करेगा। आप अन्न ग्रहण करें। परन्तु आचार्यश्री अडिग रहे। मानो उन्होंने भीष्म प्रतिज्ञा कर ली हो। उन्होंने आत्म विश्वास पूर्वक कहा-“अभी धर्म का लोप नहीं होगा। जैनधर्म एक स्वतंत्र धर्म है और जैन मन्दिर, हिन्दू मन्दिर नहीं हैं। यह भ्रष्टाचार अधिक दिन नहीं टिकेगा। उन्होंने पुनः दुहराया - यदि यह धर्मसंकट दूर न हुआ तो इस जन्म में हम अन्न ग्रहण नहीं करेंगे, चाहे शरीरान्त हो जाये।”

इस सम्बन्ध में पण्डित दिवाकरजी द्वारा डॉ. राजेन्द्रप्रसाद को पत्र लिखा गया और 29 अक्टूबर, 1948 को जबलपुर में डॉ. राजेन्द्रप्रसाद के आगमन पर शिष्ट मण्डल उनसे मिला।

डॉ. राजेन्द्रप्रसादजी ने कहा -“आप आचार्य महाराज को हमारा प्रणाम कहिये तथा अन्न ग्रहण करने की प्रार्थना कीजिये।”

जब श्री मोरारजी भाई देसाई से चर्चा की गई तो शासन की मंशा पवित्र नहीं लगी। जब कांग्रेस के हाथ शासन सूत्र आया तो पुनः आशा की गई कि डॉ. राजेन्द्रबाबू के प्रयत्न से जैन गुरु का संकट दूर होगा।

बम्बई कानून के समान, मध्यप्रदेश में भी कानून आया परन्तु जैन शिष्टमण्डल ने प्रान्तीय सरकार से सही स्थिति में निवेदन किया और बुद्धिमान मंत्रिमंडल ने जैनियों को इस कानून की परिसीमा से मुक्त कर दिया कांग्रेस अध्यक्ष श्री पुरुषोत्तम दास टंडन ने अपने भाव व्यक्त करते हुए कहा कि - मंदिर कोई क्लब या खेल का स्थान नहीं है। जहाँ हर कोई आवे या जावे। यह तो आस्था और आराधना का केन्द्र है, जहाँ

जिस सम्प्रदाय की भावनाएँ जुड़ीं हों, वही वहाँ जाने का अधिकारी हो सकता है। प्रमुख न्यायाधीशों ने ही मन्तव्य प्रकट किए - जिस सम्प्रदाय की पूजा का स्थान है, वहाँ दूसरे सम्प्रदाय वाले का अधिकार नहीं हो सकता।

भारत सरकार के एटार्नी जनरल श्री मोतीलाल सीतलवाड से इस सम्बन्ध में परामर्श लिया गया। उन्होंने बताया-“यह प्रश्न मौलिक अधिकार से सम्बन्धित है, इसलिए सीधे सर्वोच्च न्यायालय में पेश हो सकता है।”

इसके बाद 28 नवम्बर, 1950 को अकलूज में एक निंदनीय घटना हुई। सोलापुर के कलेक्टर ने रात्रि के समय दिगम्बर जैन मन्दिर का ताला तुड़वाकर उसके भीतर मेहतरों का प्रवेश कराया। इससे सारे समाज में सनसनी फैल गयी।

सरसेठ भागचंद सोनी जैसे श्रेष्ठी श्रीमन्तों एवं बैरिस्टर दास बाबू, बैरिस्टर पालकीवाल, रमणलाल कोठारी सालिसिटर तथा तलकचंद शाह जैसे वकीलों ने केस तैयार कर अकलूज जैन मन्दिर में हरिजन के विरुद्ध बम्बई हाईकोर्ट में केस लगाया।

24 जुलाई, 1951 को चीफ जस्टिस श्री एम. सी. चागला तथा जस्टिस श्री गजेन्द्र गड़कर ने केस की सुनवाई की।

यह आचार्यश्री की तपश्चर्या का विशेष पुण्य प्रभाव कहिये कि प्रारम्भ में भले ही ऐसा लगा कि केस जैनों के पक्ष में नहीं जा रहा है, परन्तु अंतिम चरण की बहस में केस ने दूसरा रूप ही धारण कर लिया। स्वयं चीफ जस्टिस ने एडवोकेट जनरल से यह पूछा कि आपके कलेक्टर को जैन मन्दिर का ताला तोड़कर रात्रि 8 बजे हरिजनों को ले जाने का अधिकार किसने दिया था ? कलेक्टर को केवल इतना अधिकार

था कि हरिजन प्रवेश को रोकने वालों पर दावा दायर करें कि ताला तोड़कर घुसने की ज्यादाती।

अन्त में माननीय चागला ने फैसला पढ़ना आरम्भ किया। बम्बई कानून का लक्ष्य हरिजनों को सवर्ण हिन्दुओं के समान प्रवेश का अधिकार देना है। जैनियों तथा हिन्दुओं में मौलिक बातों में अन्तर है। अतः एडवोकेट जनरल की यह बात अस्वीकार करते हैं कि कानून का ध्येय जैनों और हिन्दुओं के भेद को मिटा देना है। दूसरी बात यदि कोई हिन्दू इस कानून बनने के पूर्व किसी जैन मंदिर में पूजन करने के अधिकार को सिद्ध कर सके तो वही अधिकार हरिजन को भी प्राप्त हो सकेगा।

तीसरा कलेक्टर का कार्य भी कानून के अनुसार ठीक नहीं था।

कानून विशेषज्ञ आश्चर्य में पड़ गये कि जहाँ मामले में पराजय की स्थिति थी। वहाँ धर्मपक्ष की पूर्ण विजय हो गई।

इस सफलता का श्रेय पूज्य चारित्र चक्रवर्ती ऋषिराज को है, जिन्होंने जिनशासन के अनुराग वश तीन वर्ष से अन्न छोड़ रखा था। यह उनकी प्रवचनभक्ति और पञ्चपरमेष्ठी में अटूट भक्ति का प्रसाद था, जो धर्म की नौका डूबने से बच गई।

16 अगस्त, 1951 रक्षाबंधन के पावन दिवस पर आचार्य श्री ने 1105 दिनों के बाद अन्न आहार लेने की स्वीकृति दी।

बारामती में एक पाण्डाल में बड़ा चौका लगाया गया, जहाँ श्रावकों ने आचार्यश्री के आहार का पुण्य अवलोकन किया। उन ऐतिहासिक क्षणों में मेघकुमार जाति के देव अपना हर्ष व्यक्त करने के लिए थोड़ी-थोड़ी जल बिन्दुओं की वर्षा करने लगे थे। उस समय अत्यन्त रोमांचकारी दृश्य उपस्थित था।

•

35.

संवेदनशील संत का श्रेष्ठ विवेक

- संत अपने व्रत के पालन में जितना कठोर होता है, हृदय से वह उतना ही कोमल और संवेदनशील होता है। निर्धन और दुःखीजनों के लिए उनके हृदय से करुणा का नीर बहने लगता है।
- अशक्त जनों के प्रति संत का हृदय करुणा भाव से भर जाता है।

गृहस्थावस्था में आचार्यश्री सम्मेशिखरजी के पर्वत पर चढ़ रहे थे। उन्होंने एक वृद्धा माता को देखा जो प्रयत्न करके भी ऊपर चढ़ नहीं पा रही थी। थोड़ा चढ़कर पुनः सुस्ताने बैठ जाया करती थी। वृद्धा माँ को देखकर उनका हृदय वात्सल्य भाव से भर उठा। उन्होंने वृद्धा को धैर्य और हिम्मत बंधायी और थोड़ी देर बाद अपनी पीठ पर बैठाकर पर्वतराज की कठिन वन्दना करा दी।

इस घटना से आचार्यश्री के अन्तःकरण की पवित्रता और सरलता का सहज आभास मिल जाता है। उन्होंने केवल वृद्धा माँ के भार को ही नहीं उठाया था वरन् मानवता के उद्धार का पवित्र भार उठाने की शक्ति परीक्षा की थी।

आचार्य देशभूषणजी महाराज ने पण्डितरत्न श्री दिवाकर जी को आचार्यश्री के जीवन की एक विशिष्ट घटना सुनाई थी।

एक ग्राम में एक गरीब श्रावक को तीव्र अभिलाषा थी कि मैं भी आहार दूँ। परन्तु अपनी दरिद्रता के कारण वह आहार के लिए चौका

लगाने का साहस नहीं कर पाया ।

समय की होनहारता देखिए कि एक दिन उसने जो भी कुछ घर में था, उससे ही आचार्यश्री को आहार दान देने के भाव से प्रासुक भोजन तैयार किया और पड़गाहन के लिए द्वार पर खड़ा हो गया । भावों का चुम्बकीय प्रभाव यह हुआ कि आचार्यश्री को उस दिन उसी के यहाँ आहार योग्य विधि मिल गई ।

आचार्यश्री के चरणों से घर पवित्र बन गया ऐसा भाव करता वह श्रावक बहुत प्रसन्न हुआ परन्तु यह सोचकर कुछ उदास हो गया कि आहार के योग्य केवल चार ज्वार की रोटियाँ चौके में हैं ।

आचार्यश्री बहुत विवेकशील/करुणाशील/संवेदनशील हृदय वाले लोकोत्तर सन्त थे । उन्होंने विचार किया कि यदि हम चारों रोटियाँ ग्रहण कर लेंगे, तो यह गरीब क्या खायेगा? अतः आचार्यश्री ने थोड़ी सी भाकरी, थोड़ी दाल और चावल मात्र लेकर अपना आहार पूर्ण किया । गरीब श्रावक ने भक्तिभाव और प्रमुदित मन से आहार दिया वह धन्य-धन्य होता हुआ आचार्यश्री के प्रति अनुग्रह भाव से देख रहा था ।

आचार्यश्री ने बाद में बताया कि उस दिन सामायिक में बहुत मन लगा और अन्य दिनों की अपेक्षा अधिक देर तक सामायिक में ध्यानस्थ रहे । शुद्ध तथा पवित्र मन से दिये गये आहार का परिणाम पर भी अच्छा प्रभाव पड़ता है ।

भावों का प्रक्षेपण बहुत सापेक्ष हुआ करता है । दाता और ग्रहण करने वाला, दोनों के भावों का साधु चर्या पर चमत्कारिक प्रभाव पड़ता है ।

36.

मूकं करोति वाचालं

मूकं करोति वाचालं पङ्कं लंघ्यते गिरिम् ।

यत्कृपा तमहं वन्दे, परमानन्दं श्री गुरुम् ॥

- गुरु की अनुकम्पा, जिस पर हो जाती है, वह असाध्य को भी साध्य कर लेता है, आशीर्वाद का वरदहस्त जिसके लिए उठ जाता है । वह भक्त कृत्य-कृत्य हो जाता है ।

कोल्हापुर के नीमसिर ग्राम में अण्णप्पा दाढ़ी वाले के नाम से गाँव में प्रसिद्ध एवं पैंतीस वर्षीय युवक था ।

वह शास्त्रज्ञ था, परन्तु वह गूंगा हो गया था । एक वर्ष तक वह अपने गूंगेपन से मानसिक रूप से दुःखी रहा और लज्जावश लोगों के सामने आने में कतराने लगा ।

गाँव के लोग उसे आचार्यश्री के पास ले गये । अण्णप्पा पूर्व से आचार्यश्री से परिचित था । वह आचार्यश्री के पास बैठ गया ।

आचार्यश्री तो करुणावन्त मूर्ति थे ।

उन्होंने अण्णप्पा से कहा - चुप क्यों बैठे हो? तुम बोलते क्यों नहीं । गमो अरिहंताणं का उच्चारण करो । उसने बोलने का प्रयास किया और लोग चकित रह गये कि गूंगा नौजवान पूर्व की भाँति बोलने लगा । चार दिन वह आचार्यश्री के सान्निध्य में रहा फिर अपने घर वापस लौट

आया।

घर वापस आते ही वह पुनः गूंगा हो गया।

पूज्य मुनि पायसागरजी उस समय गृहस्थावस्था में थे। वे उसके घर पहुँचे और सारी कथा सुनकर उसे उलाहना-सा देते हुए बोले - जब तुम्हें गुरु के आशीर्वाद से इतना महान् प्रसाद प्राप्त हो गया और तू बोलने लगा था, तो कम से कम एक वर्ष उनकी चरण सेवा में रहता। वापस गुरु के चरणों में पहुँचो और जब तक ठीक न हो जाओ, न आना।

अण्णप्पा पुनः उन तपोमूर्ति के निकट जा पहुँचा। उनके तप प्रभाव से वह व्यक्ति पुनः बोलने लगा। वहाँ लगभग 20 दिन रहने के बाद जब घर लौटा तो रोग मुक्त हो चुका था।

मुनि पायसागर कहने लगे -

आचार्यश्री ने न केवल नीमसिर गाँव के गूंगे को वाणी दी, वरन् मुझ आध्यात्मिक गूंगे को, ऐसी मंगलमय वाणी की शक्ति प्रदान कर दी कि हमारा जीवन ही धन्य और कृत पुण्य हो गया। उनकी असीम अनुकम्पा, जिस व्यक्ति पर हो जाती है, उसका जीवनोद्धार हो जाता है।

आचार्यश्री ने अपनी रसमय आध्यात्मिक वाणी से न जाने हम जैसे कितने जीवों के मूकत्व का परिहार करके भव सिन्धु में डूबते जनों को हस्तावलंबन दिया। श्री पायसागरजी महाराज कहने लगे - मुझ विषयानुरागी को महाव्रत की अपूर्व निधि देकर मेरा भवभवान्तर सुधार दिया। मिथ्यात्व की घोर निशा से उबारकर सम्यक्त्व की प्रभात बेला में पहुँचा दिया है। उनके अनंत उपकारों को कहने में वाणी भी असमर्थ है।

•

37.

मुनि पायसागर के जीवन शिल्पी

आचार्य शान्तिसागरजी महाराज को मुनिवर श्री पायसागर के जीवन शिल्पी कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। मिथ्यात्व की अंधेरी गलियों से सम्यक्त्व के राजमार्ग पर लाने का श्रेय आचार्यश्री को ही है। मुनि श्री पायसागर गृहस्थावस्था में एक नाटक कम्पनी में प्रमुख अभिनेता थे। बाद में बम्बई के मिल मालिकों के विरोध में मिल मजदूरों के सत्याग्रहों को प्रोत्साहन देकर एक क्रान्तिकारी सरीखा जीवन व्यतीत किया। लेकिन जल्दी ही जटाविभूतिधारी चिदम्बर बाबा का रूप धारण करके काशी पहुँचे और हर प्रकार के साधुओं के सम्पर्क में आये।

जटाजूट धारी पाखण्डी संन्यासी के छद्म रूप में वे स्वयं यह विचार करने लगे कि इस प्रकार आत्मवंचना करते हुए क्या वह अपना कल्याण कर सकता है। अस्तु साधु का वेश त्याग करके सुसज्जित वस्त्रों को पहनकर एक गुण्डा के रूप में स्वच्छन्द विचरण करने लगे।

सुयोग कहिए कि आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज का कौत्रूर में आगमन हुआ वहाँ पायसागरजी ने आचार्यश्री के प्रथम दर्शन किए।

श्री पायसागरजी ने बताया कि कुछ जैन बन्धुओं ने महाराज से मेरे विषय में कहा कि जैन कुलोत्पन्न होते हुए भी महाव्यसनी हैं और इसे णमोकार मन्त्र तक पर श्रद्धा नहीं है।

महाराजश्री यह बात सुन रहे, उनके मुखमण्डल पर परम तेज और शान्ति की अमिय आभा झलक रही थी। उन्होंने मात्र यही कहा था

- आज हमारे दर्शन किए हैं, इसलिए इसे कुछ न कुछ लाभ अवश्य होगा।

श्री पायसागरजी ने कहा-“मैंने उन्हें आध्यात्मिक जादूगर के रूप में देखा। मेरे मन में प्रसुप्त वैराग्य का बीज अंकुरित होने लगा। आचार्यश्री के इस अविस्मरणीय दर्शन ने मेरे प्राणों में ऊर्जा जगा दी। न जाने मुझे क्या हो गया? मुझे ऐसे लगा जैसे अंधे को आँख मिल गयी हो।”

कल के स्वच्छन्द और उद्वण्ड व्यक्ति ने एक माह के भीतर ही आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत लेकर सप्तम प्रतिमा ग्रहण कर ली।

आचार्यश्री बड़े मन पारखी थे। उन्होंने अपनी दिव्यदृष्टि से मुझमें ऐसी कौन-सी बात निहार ली जब मैंने दूसरे माह क्षुल्लक दीक्षा की प्रबल भावना की तो उन्होंने मुझे कृतार्थ कर दिया।

ठीक छह वर्ष के पश्चात् 1929 में सोनागिरि में मैंने दिगम्बर दीक्षा ले ली।

इस महाव्रत के मुनिपद तक आने में लोगों का बड़ा अपवाद सहन करना पड़ा, क्योंकि मेरा अतीत एक बड़े व्यसनी और अवगुणों के भण्डार के रूप में रहा। ऐलक पद देते समय आचार्य संघस्थ चन्द्रसागरजी ने मुझ पर आक्षेप किया था कि ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप तो मालूम नहीं और ऐलक पद की दीक्षा ले ली।

परन्तु मैं जिस बात को अंगीकार कर लेता, बस उसे प्राणपण से निभाता हूँ यह बात आचार्यश्री ने बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से समझ ली थी। आचार्यश्री की दिव्यदृष्टि ने मेरा जीवन ही बदल दिया। जैसे लोहे को पारस पत्थर मिल गया हो। आचार्यश्री की मुझ पर अनंत कृपा रही।

मेरी अंतिम विदाई के समय आचार्यश्री ने कहा था -“पायसागर! बहुत होशियारी से चलना, स्वरूप में जागृत रहना, दुनिया कुछ भी कहती रहे, तू योग निद्रा में लीन रहना।” पायसागर महान् कलाकार थे। मुनि बनने के बाद उनकी कला में और अपूर्वता आ गई और वे मोक्षमार्ग के अभिनेता के रूप में विख्यात होने लगे।

उपदेश देते समय, वे वीतराग भाव को, अपनी अभिनय कला से ऐसा निरूपण करने लगते थे कि लोग (श्रोता) मन्त्रमुग्ध होकर शान्तभाव से वीतराग रस का पान करने लगते थे।

आत्मरस में डूबकर उनका प्रवचन इतना मार्मिक होता था कि लोग भी आनंद रस में डूब जाते थे।

जीवन के ढलते समय उनका शरीर रोगों का घर बन गया था। अस्तु वे कहने लगे थे - मैंने जो कर्म किए हैं, उसका फल मुझे ही भोगना पड़ेगा। कर्म रोग की कोई औषधि नहीं है।

वे कहा करते थे कि पाप क्षय के दो ही उपाय हैं -

1. आत्म स्वरूप का चिंतन (ध्यान)।
2. जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति।

वे अपने गुरु आचार्यश्री के प्रति अनन्य अनुग्रह भाव से भरे रहते थे और अन्त समय तक यही कहते रहे कि मेरे परम गुरु ने मेरे दोषों का शोधन करके मुझे उपगूहन पूर्वक विशुद्ध बना दिया है।

उनकी भावना इन शब्दों में मुखरित होती रहती थी।

मैं आत्म गुणों की दीपावली मनाना चाहता हूँ और कर्मों की होली जलाना चाहता हूँ।



38.

अमर बन गया मरण, छूकर चरण तुम्हारे

रत्नकरण्डकश्रावकाचार में कहा है -

उपसर्गो दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।

धर्माय तनुविमोचन माहुः सल्लेखनामार्याः ॥

उपसर्ग या संकट आने पर, दुर्भिक्ष पड़ने पर, वृद्धावस्था के कारण शरीर शैथिल्य होने पर अथवा कोई असाध्य रोग हो जाने पर जिसका कोई इलाज न हो सके, धर्म रक्षार्थ शरीर को समता परिणामों से त्यागना सल्लेखना है।

काय और कषाय को कृश करते हुए संयम की आराधना पूर्वक रत्नत्रय धर्म का अन्त समय तक पालन होता रहे, इस पवित्र भावना पूर्वक सल्लेखना धारण की जाती है।

आचार्य पूज्यपादस्वामी ने कहा है -“सम्यक् काय कषाय लेखना, कायस्य बाह्यभ्यन्तराणां कषायाणां तत्कारणहापनक्रमेण सम्यक् लेखना सल्लेखना।” बाह्य सल्लेखना काय तथा अभ्यन्तर सल्लेखना कषायों को तथा इनको पुष्ट करने वाले कारणों/साधनों को कम करते जाना सल्लेखना है।

क्षपक यानि सल्लेखना धारण करने वाला, मृत्यु पर जय पाने की इस अद्भुत कला/प्रयोग द्वारा जीवन को विशुद्ध बनाता है। जैसे स्वर्ण अग्नि संस्कार से शुद्ध होकर निखर जाता है। वैसे ही वीतराग पुरुष

वृद्धावस्था या ऊपर वर्णित कारणों से यम को चुनौती देकर शरीर से राग भाव कम करते हुए यम सल्लेखना धारण करता है।

साधु जीवन भर एक ही भावना से तप करते हुए शरीर को कष्ट सहिष्णु बनाता है कि वह अन्त समाधिमरण पूर्वक देह का त्याग कर सके।

समाधि साधक, चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागरजी महाराज ने कुन्थलगिरि में 14 अगस्त, 1955 को ऐतिहासिक सल्लेखना धारण कर 24 अगस्त को अपना आचार्य पद अपने प्रमुख शिष्य वीरसागरजी महाराज को प्रदान कर घोषणा पत्र लिखवा कर जयपुर (जहाँ मुनिराज विराजमान थे) पहुँचाया।

आचार्यश्री ने इंगिनीमरण संन्यास धारण कर पूर्ण जागृत एवं आत्म चैतन्य रहकर लोगों से कहा कि मुझे अब किसी की अपेक्षा नहीं है। 36 दिवस की सल्लेखना में आचार्यश्री ने केवल 9 दिन जल ग्रहण किया। 18 सितम्बर, 1955 को प्रातः 6.50 पर ॐ सिद्धोऽहं का ध्यान करते हुए स्वर्गवासी हो गए।

आचार्य श्री ने कठोर तपश्चर्या और आगमोक्त पवित्र मुनिचर्या द्वारा जैन श्रमण संस्कृति को पुनरुज्जीवित करके महान् प्रभावना की थी। आपने 1950 में गजपंथा तीर्थ पर द्वादशवर्षीय सल्लेखना का व्रत ग्रहण कर लिया था।

कुन्थलगिरि में कुछ विशिष्ट भक्त जनों ने जब आचार्यश्री से प्रार्थना की कि अभी सल्लेखना धारण न करें तब आचार्यश्री ने बारह वर्ष पूर्व की एक घटना सुनाई।

बारह वर्ष पूर्व आचार्यश्री अस्वस्थ हुए। उनके एक धर्मी भक्त

के सुपुत्र अमेरिका से उच्च डॉक्टरी परीक्षा उत्तीर्ण करके भारत लौटे थे और आचार्यश्री की परीक्षा करने के बाद यह रिपोर्ट दी कि महाराज! आपको गले का कैंसर हो गया है, जिसका इलाज नहीं हो सकता, अतःआपका सल्लेखना धारण करना श्रेयस्कर होगा।

महाराजश्री उनका परामर्श सुनकर मुस्कराये और उन्होंने डॉक्टर से कहा – “देखो! मुझे कैंसर नहीं है। आपकी चिन्ता निरर्थक है। आत्म कल्याण के लिये मुझे क्या करना चाहिए, इसकी व्यवस्था मैं स्वयं कर लूँगा। यह व्रत मैं स्वयं अन्तः प्रेरणा पूर्वक धारण कर लूँगा, इसे बताने का तुम्हें अधिकार नहीं है।”

आचार्यश्री कहने लगे – “उस समय मुझे कैंसर नहीं था। न बाद मैं यह हुआ। परन्तु अब इन्द्रिय क्षीण हो चुकी हैं, अस्तु प्राणी संयम की रक्षा हेतु सल्लेखना व्रत धारण करना मेरा कर्तव्य है। मेरी अन्तः प्रेरणा यही कह रही है।”

महाराजश्री ने आगे चर्चा के दौरान कहा-“येसी एकला जासी” एकला प्राणी अकेला आता है और अकेला जाता है।”

“साथी कुणि न कुणाचा”- कोई किसी का साथी नहीं। ऐसी वैराग्यवर्द्धक वाणी ने सभी को निरुत्तर कर दिया।

आचार्यश्री सल्लेखना के समय सर्वतोभद्र कल्याणी लोकोत्तर भावों के महान् पालक सबको पुण्य दर्शन देने और धर्म साधना में जरा भी प्रमाद नहीं करते हुए ‘सत्त्वेषु मैत्री’ का आशीर्वाद दे रहे थे।

संघपति सेठ गेंदनमल और पण्डित प्रवर सुमेरुचन्द दिवाकर जब आशीर्वाद की प्रार्थना करने लगे तो उन्होंने कहा था –“तुम्हें ही क्यों ? जो भी धर्म पर चलता है, उसके लिए हमारा आशीर्वाद है। विरोधी

को भी आशीर्वाद है कि “वह सद्बुद्धि प्राप्त कर आत्मकल्याण करे।” कुंथलगिरि का कण-कण आचार्यश्री की इस भावना को प्रतिध्वनित कर रहा था।”

साम्यं मे सर्वभूतेषु, वैरं मम न केनचित्।

आशां सर्वां परित्यज्य, समाधि महमाश्रये।

आचार्य श्री की समाधि यह मुखरित कर रही थी –

एको मे शाश्वतश्चात्मा, ज्ञानदर्शनलक्षणाः।

शेषा बहिर्भवाः भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः।

सल्लेखना की तपाग्नि द्वारा आचार्यश्री का जीवन सर्व प्रकार से लोकोत्तर बनता हुआ अनन्त कर्म की निर्जरा करता हुआ विशुद्ध होता जा रहा था।

मृत्यु भी आचार्यश्री से मंगल महोत्सव बनकर कह रही थी-

“आज मरण भी अमर बन गया, छूकर चरण तुम्हारे।”



39. अपूर्व दयालुता

भोजभूमि से चार मील दूर येलगुड ग्राम में दिव्य बालक सातगौड़ा का जन्म उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के काल चक्र पर विशेष रूप से अंकित की जाने वाली घटना है। जो आगे चलकर आचार्य चारित्र चक्रवर्ती शान्तिसागर के नाम से जैन श्रमण संघ के गुरुणांगुरु बने।

सातगौड़ा जन्मजात सन्तात्मा थे। गृहस्थावस्था में उन्होंने कृषि कर्म करते हुए गृहस्थ धर्म का पालन, संयम, अहिंसा और सत्य आचरण के साथ किया।

भोज ग्राम के अस्सी वर्षीय वृद्ध मराठा कृषक बाबा ने चारित्र चक्रवर्ती ग्रन्थ के लेखक स्वनामधन्य पण्डितरत्न सुमेरुचन्द दिवाकरजी को एक अविस्मरणीय घटना सुनाई, जो सातगौड़ा के करुणाशील और दयापूर्ण व्यक्तित्व को मुखर करता है।

कृषक मराठा बाबा का नाम था गणज्योति दमाले। इस संस्मरण को सुनाने वह अपने गाँव से दो मील चलकर भोज ग्राम आया और बहुत भावुक होकर उसने महाराजश्री की यह घटना सुनाई। बाबा ने बताया – हमारे खेत से लगा हुआ महाराजश्री, जिन्हें हम पाटील कहते थे, का खेत था। मेरी आर्थिक स्थिति कमजोर थी, जबकि पाटील साहब श्रीमन्तों की श्रेणी में आते थे। बाबा कहने लगे – खेत में जब फसल खड़ी होती थी तो हमारे खेत में हजारों सैंकड़ों पक्षी दाना चुगने आते थे।

मैं उन्हें उड़ाता था, तो वे पक्षी उनके खेत में जाकर दाना चुगने लगते थे।

महाराजश्री उन पक्षियों को दाना चुगते हुए देखते थे। वे कभी भी उन्हें नहीं उड़ाते थे। झुण्ड के झुण्ड पक्षियों को चुगते हुए देखकर चुपचाप वे न जाने क्या सोचने लगते थे, मानो वह खेत उनका न हो।

एक दिन मैंने पाटील साहब से कहा – “तुम अपने खेत से पक्षियों को नहीं उड़ाते हो। कहो तो सारे पक्षी तुम्हारे खेत में पहुँचा देवेंगे।” उन्होंने कहा “तुम भेजो गण भैया हमारे खेत का सारा अनाज ये पक्षी खा लेंगे फिर भी हमारे यहाँ कमी नहीं होगी।”

पाटील साहब से कहा – “तुम तो साधु नजर आते हो। यदि पक्षियों पर इतनी दया है तो झाड़ पर पानी क्यों नहीं रख देते, नीचे मिट्टी के बर्तनों में क्यों रखते हो? महाराज श्री बोले – ऊपर पानी रखने पर पक्षियों को नहीं दिख पायेगा इससे नीचे रखते हैं।”

इस दयापूर्ण भावना को विचारकर हम उसी समय सोचते थे कि पाटील असाधारण व्यक्ति हैं, जो पक्षियों के प्रति दयावन्त हैं, वह सामान्य कैसे हो सकता है। बाबा गण ज्योति कहने लगे – “मैं सच कहता हूँ, जब पूरी फसल आती और अनाज निकालते थे तो उनके खेत में अपेक्षाकृत अधिक अनाज उत्पन्न होता था। दया के भावों का यह महनीय प्रभाव मैंने साक्षात् अनुभव किया था।”

पाटील साहब सदैव शान्तचित्त और विचारों में खोए हुए रहते थे। वे फिजूल की अनर्गल बातें कभी नहीं करते थे। वे हमेशा यह कहते थे कि खेती के काम में कहीं भी द्वेषभाव नहीं होता, जैसा कि अन्य व्यापार में लोग करते हैं। उनकी प्रकृति बहुत सरल थी। वे बहुत भोले ढंग से निष्कपट बातें करते थे।

40.

वाणी बने वीणा

- पशु इसलिए दुःखी हैं कि उसके पास भाषा रूपी वाणी नहीं है, वह मूक है।
- मनुष्य इसलिए दुःखी है कि वह वाचाल है, अनर्गल/असंयम वाणी का प्रयोग कर बैठता है।
- रसना इन्द्रिय, ऐसी इन्द्रिय है जो एक साथ दो काम करती है। स्वाद लेना और शब्दों का उच्चारण करना।
- मनुष्य के पास मन है, जिससे वह हेय और उपादेय रूप विवेक रखकर वाणी को संयमित करता है।
- वाणी संयम से वचन सिद्धि की फलश्रुति प्राप्त होती है परन्तु उसके लिए धैर्यवान और सहिष्णु होना आवश्यक है। त्वरित बोलना वाक्पटुता नहीं कही जाती। ज्यादा बोलना और जल्दी बोलना यह बड़प्पन और गम्भीरता का महज अभाव माना जाता है।

पूज्य आचार्य श्रीशान्तिसागरजी महाराज से जब कोई आगम/अध्यात्म सम्बन्धी जटिल प्रश्न करता, तो वे उसका तुरन्त उत्तर नहीं देते थे। पहले वे उस विषय या वस्तु पर गहरा चिन्तन करते और फिर सयुक्ति समाधानपरक उत्तर देते थे।

एक बार एक श्रावक ने कहा - “महाराज श्री। आप तुरन्त

उत्तर क्यों नहीं देते?” प्रत्युत्तर में आचार्यश्री ने कहा-“क्या आप मुझे सर्वज्ञ समझते हैं ? क्या आप लोग यह धारणा बना बैठे हैं कि लंगोटी त्यागने मात्र से सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है? बिना सोचे/समझे उत्तर देने पर आगम के कथन का विरोध संभव है। मैं आगम के विरुद्ध कोई कथन करके नरक गति में जाना नहीं चाहता हूँ।”

“यह हो सकता है कि मेरे द्वारा उत्तर न देने पर लोग मुझे अज्ञानी समझेंगे, परन्तु इसमें मेरी कोई हानि नहीं। हाँ! आगम के विषय में, उचित विचार किये बिना बोलना अकल्याणकारी है।”

महान् व्यक्ति अहंकार नहीं करते। जो ज्ञान-सम्पदा उनके पास नहीं, उसको नम्र भाव से स्वीकार कर वे अपनी अज्ञानता को आडम्बर से छिपाते नहीं हैं। इसी भाव को आचार्य विद्यासागरजी महाराज ने मूकमाटी में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है-

अपनी जीभ जीतता है,
उसी का दुःख रीतता है।
चिरंजीवी बनता वही,
सुखमय जीवन बीतता है।
उसकी वचनावली बनती,
स्व-पर दुःख निवारणी,
संजीवनी वटी ॥

41.

व्रत : जीवन का स्वर्ण कलश

- माता पिता और गुरु के ऋण से क्या कोई उच्छ्रय हो पाता है ? गुरु -सम्यक् दिशा बताने वाला, अनन्य उपकारी होते हैं ।
- परमगुरु 'अर्हन्त-देव' को 'णमो अरिहंताणं' कहकर अष्टकर्म जेता सिद्धों से पहले नमन किया गया है, क्योंकि गुरु के निमित्त से ही आत्म स्वरूप का परिचय और शाश्वत सुख का प्रशस्त मार्ग प्रशस्त होता है ।
- गुरु, भक्त के लिए बहुत करुणाशील हुआ करते हैं - और " गुरु बिन ज्ञान कहाँ ते होई ।" अज्ञान के अंधकार से ज्ञानालोक में ले जाने वाला एकमात्र गुरु ही हुआ करता है ।
- गुरु की महानता देखिए । जो इनकी शरण में आता है, वे उसे अपने जैसा बना देते हैं । परन्तु अज्ञानी इस कृपापूर्ण दृष्टि का मूल्यांकन कहाँ कर पाते हैं ।
- देव और शास्त्र-उदासीन होते हैं, परन्तु गुरु साक्षात् निमित्त बनकर भविष्य से तारने के नाव के समान होते हैं ।

बारामती के दानवीर सेठ तुलजारामजी एक ऐसे ही आचार्य श्री के अनन्यभक्त थे, जिन्होंने साठ हजार की बोली लेकर कुंथलगिरि में देशभूषण कुलभूषण भगवान् की प्रतिमा विराजमान करवायी थी ।

आचार्यश्री उन्हें बार-बार व्रत लेने के लिए प्रेरित करते थे । एक बार महाराजश्री ने स्पष्टतः कहा-"तुम्हारे व्रत लेने के भाव नहीं होते,

इससे ऐसा लगता है कि तुम्हारी किसी कुगति या नरकगति का बंध गया है, क्योंकि तीन आयुओं का बन्ध होने पर जीव को संयम लेने के परिणाम नहीं होते ।"

सेठ तुलजारामजी अपनी व्रत न ले पाने की कमजोरी को छिपाते हुए कहने लगे -"हमारी छह पीढ़ियों में मुझ-सा भाग्यशाली नहीं हुआ है, जिसने आप जैसे श्रेष्ठ वीतरागी गुरु का दर्शन का सौभाग्य लिया हो । रही त्याग की बात, वह तो कभी भी पूर्ण हो जायेगी । लेकिन महाराज जब अव्रती श्रावक भी स्वर्ग जाता है और व्रती श्रावक भी तो व्रती बनने की क्या जरूरत है ?" उत्तर में परम पूज्य आचार्यश्री बोले-"व्रती के देवगति जाने का नियम है, परन्तु अव्रती के कोई पक्का नियम नहीं है ।"

सेठजी पुनः कहने लगे -"महाराजश्री आप मुझको जबरदस्ती व्रत लेने के लिए क्यों बार-बार कहते हैं?" महाराजश्री का अनुकम्पा भरा हृदय भाव देखें -"वे बोले स्वर्ग जाते समय हमें अपना दूसरा साथी चाहिए - सोवती पाहिजे । फिर कोई दूसरा शान्तिसागर आकर नहीं कहेगा ।"

इतना सुनते ही सेठ साहब प्रायश्चित्त भाव से इतने विगलित हो गये कि शिरोनति होकर बोले -"महाराज ! मुझे तो बस आपकी आज्ञा ही शिरोधार्य है । मुझे कृतार्थ करें ।"

सेठजी की स्वीकारोक्ति पाकर आचार्यश्री ने उनके सिर पर पिच्छी रख दी और यथोचित व्रत देते हुए आशीर्वाद दिया-"तुम्हारा कल्याण हो, धर्मवृद्धि हो । मुझे तुम्हें व्रत देते हुए आनन्द की अनुभूति हो रही है ।" गुरु शिष्य की परम्परा की यह अनोखी आत्मीय वात्सल्यता क्या कहीं अन्यत्र देखने को मिल सकती है ?

•

42.

काँटे से काँटा निकालें

- संत स्वभाव फल से लदे हुए वृक्षों के समान होता है, पथिक फलदार वृक्ष को जब पत्थर मारता है, तो उसका प्रत्यार्पण मीठे फलों के साथ होता है।
- संत पुरुषों को जब कोई कठोर वचनों से आघात पहुँचाता है तो वह उनसे प्रतिशोध या प्रतिरोध नहीं करता अपितु मिष्ठ युक्त वचनों द्वारा उसका परिहार कर देता है।
- संत की सरलता और पारदर्शी जीवन दृष्टि से वह सामने वाले को इतना अभिभूत कर देता है कि उसकी प्रतिशोध अनल भी चमन जैसी शीतलता में परिवर्तित हो जाती है।
- दिगम्बर मुनि/आचार्यश्री की सुकोमल पिच्छी इस बात को निरन्तर मौन संदेशवाहक की भाँति उनके कर-कमलों में सुशोभित रहती है और कहती है कि मेरी मृदुलता, सुन्दरता और संरक्षण का भाव ही बुहारने का काम करते हुए भी आशीर्वाद की प्रतीक बनी रहती है।

एक बार आचार्य श्रीशान्तिसागरजी के पास एक अन्य धर्मावलम्बी आया और धृष्टतापूर्वक कहने लगा –“महाराज! आप बन्दर की तरह नग्न क्यों रहते हैं?”

महाराजश्री ने शान्त स्वर में कहा–“यदि पैर में काँटा लग जाये

तो उसे दूसरे काँटे से निकाल लिया जाता है। हमारा मन भी बन्दर की तरह चंचल है, उसे रोकने के लिए बन्दर की तरह नग्नता स्वीकार करना आवश्यक है।”

इससे मन वश में हो जाता है।

महाराज के इन सयुक्तिक वचनों द्वारा मार्मिक उत्तर सुनकर वह अत्यन्त प्रभावित हुआ और आचार्यश्री का परम भक्त बन गया।

बुरे बोल काँटा हैं। सुबोल से बुरे बोल का काँटा निकालना संत का स्वभाव होता है।



43. अहिंसा की शौर्यता

- जैनधर्म की अहिंसा प्रासंगिक और समसामयिकता की धुरी पर शौर्य की तेजवन्ता से युक्त है। उसके गर्भ में कायरता और पलायनवाद नहीं छिपा होता है।

आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज, अहिंसा के मूर्तवन्त और महाव्रतधारी होते हुए भी उन्होंने अहिंसा को शौर्य के अस्त्र के रूप में ही समाज को सम्बोधित किया, क्योंकि अहिंसा के नाम पर आततायियों से भागना-दब्बूपन और कायरता है। वह अहिंसा नपुंसक है, जो आक्रमणकारियों से अपनी रक्षा करने के लिए हतोत्साहित करे।

घटना सन् 1927, इस्लामपुर की है-

आचार्यश्री संघ सहित, वहाँ से विहार करने वाले थे। जिन धर्म विद्वेषियों ने संगठन कर यह निश्चित किया कि इन सभी नग्न साधुओं को लंगोटी पहनाकर गाँव से निकलने देंगे।

साधुओं पर अप्रत्याशित रूप से आये संकट का मुकाबला करने के लिए हजारों क्षात्र धर्म वाले जैन तलवार, बन्दूक, भाला आदि लेकर इकट्ठे हो गये।

उस समय संघ में विद्यमान मुनि श्री चन्द्रसागरजी ने लोगों से कहा कि - वे शान्त रहें उत्तेजित न हों।

आचार्यश्री ने जब यह सुना तो उन्होंने मुनिश्री से कहा - इस

समय शान्ति का आदेश असामयिक है।

जब धर्म की प्रतिष्ठा को आँच आने लगे तब उसकी रक्षा के लिए जो भी संभव हो, करना चाहिए। यह शान्त रहने का मौका नहीं है। जब विधर्मी, निर्ग्रन्थ साधुओं को वस्त्र पहनाने की तैयारी कर रहे हों, उस समय समर्थ धार्मिक लोगों को चुप होकर नहीं बैठ जाना चाहिए।

परिस्थिति के अनुसार प्रवृत्ति करने का जैनधर्म का आदेश है। क्षत्रिय वृत्ति के काल में, वैराग्यपना दिखाने से सद्धर्म संरक्षण नहीं हो सकता।

इस समय आचार्यश्री की दृष्टि एक तेजस्वी क्षत्रिय धर्म के अनुरूप थी, जो अहिंसा का परम तेजस्विता का ही रूप था।

क्षमा शोभती उस भुजंग को, जिसके पास गरल है।

उसे नहीं जो दन्तहीन, विषहीन, विनीत सरल है॥

•

44.

भक्ति का अतिरेक

- धार्मिक क्रियाओं में विवेक आवश्यक है। यदि भक्ति में भी विवेक अनुपस्थित हो जाये, तो वह अंधभक्ति बन जाती है।

धार्मिक क्रियाओं में यह विवेक अपेक्षित है कि कम से कम आडम्बर हो। यद्यपि पूजा पद्धति के कारण जैनधर्म में पंथवाद प्रवेश कर चुका है, परन्तु आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज ने विवेकशून्य धार्मिक आचरण को प्रोत्साहित नहीं किया।

एक बार पण्डित मखनलालजी ने प्रातःकाल ताजा सुन्दर गुलाब का पुष्प लाकर आचार्यश्री के चरणों पर रख दिया। आचार्यश्री ने पण्डितजी से कहा—“आप विद्वान् हैं फिर यह अतिरेक कैसा?” पण्डितजी बोले—“जब पूजा में देव प्रतिमा को पुष्प चढ़ाया जाता है तो गुरु को क्यों नहीं चढ़ा सकते?”

आचार्यश्री ने कहा—“भाई श्रद्धा हो तो सामने चढ़ाओ परन्तु शरीर के किसी भाग पर नहीं। अन्यथा लोग धीरे-धीरे सिर पर चढ़ाने लगेंगे, जिससे दिगम्बरपना ही समाप्त हो जायेगा।”

पुष्प में सूक्ष्म जीव होते हैं, जिन्हें हमारे शरीर की गर्मी से बाधा पड़ सकती है। अतः विवेक बहुत आवश्यक है।

एक बार इसी अविवेक के कारण एक मुनिराज के प्राण संकट में पड़ गये थे। घटना यह थी कि वे ज्वर से पीड़ित थे और लोगों ने

प्रतिमा की भाँति उनका भी पञ्चामृत अभिषेक कर दिया जिससे मुनिराज का ज्वर सन्निपात में परिवर्तित हो गया।

भक्ति के अतिरेक में अपना विवेक नहीं खोना चाहिए।

•



45.

तीर्थ वन्दना और त्याग

- वे धन्य हैं, जिनकी तीर्थ वन्दना, आत्म वन्दना बनती है और जीवन में कुछ नई सौगात लेकर तीर्थ से लौटते हैं।
- भव्य जीव आत्मकल्याण के लिए निर्वाण-क्षेत्र पर जाकर ऐसी भव्य भूमि का निर्माण कर लेते हैं। उनकी प्रसुप्त संभावनाओं को साकार कर देती है।

आचार्यश्री जब गृहस्थावस्था में 32 वर्ष के युवा थे, तब नित्य निर्वाणभूमि श्री सम्मदशिखरजी की वन्दना की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए उन्होंने जीवन भर के लिए घी और तेल के सेवन का त्याग कर दिया।

घर आते ही भावी मुनिराज ने दिन में एक बार भोजन करने की प्रतिज्ञा ले ली।

ग्यारह प्रतिमाओं के आरोहण स्वरूप क्षुल्लक अवस्था में, गिरनार पर्वत पर भगवान् नेमिनाथ के चरणों की वन्दना कर विचार करने लगे कि इसे कैसे अविस्मरणीय बनायें और वहीं ऊपर का दुपट्टा त्याग कर ऐलक के व्रत अंगीकार किए।

गिरनार पर्वत से लौटते तो जीवन भर के लिए सवारी का त्याग कर, पद-विहार करने की प्रतिज्ञा ले ली।

गिरनार से लौटते हुए शाम ढलने वाली थी। वे आहारचर्या हेतु

निकले। पड़गाहन होने के पश्चात् आहार शुरू करने ही वाले थे कि उनकी दृष्टि घड़ी की ओर चली गई। सदी के दिन थे, सूरज जल्दी अस्ताचल की ओर जाने को उद्यत था।

विचार करने लगे। यदि आहार करता हूँ तो इतना समय लग जायेगा कि रात्रिभोजन का दोष लग जायेगा। सूर्य का अभी प्रकाश था। यात्रा की थकान और जठराग्नि तीव्र थी, फिर भी महाराज श्री आहार की लोलुपता को त्याग कर बाहर चले आये।

लोगों ने कारण पूछा –“महाराज! क्या असावधानी हो गई।” उन्होंने शान्त भाव से कहा –“भोजन विधि में कोई दोष नहीं था, किन्तु विलम्ब से आहार लेने से, व्रत में दोष लगने की संभावना से आहार ही आहार त्याग देना चाहिए।”



आचार्य श्री शांतिसागरजी के चरण

46.

उपवास : मोह का विमोचन

- एक सुधी श्रावक ने आचार्यश्री से प्रश्न किया - उपवास से क्या लाभ है ?
- शरीर में मोह का विमोचन करना।
- उपवास से शरीर से शिथिलता होना और भूख आदि का कष्ट होना स्वाभाविक है, परन्तु जैसे-जैसे शरीर से मोह का विमोचन शुरु होने लगता है। उसकी अनुभूति कम होने लगती है। वस्तुतः दुःख की जड़ मोह भाव है।
- उपवास से इन्द्रियाँ विषयों की ओर नहीं दौड़ती।
- जैसे-जैसे मोह भाव मन्द होता जाता है, आत्मा की शक्ति जागृत होती जाती है।

आचार्य श्री शान्तिसागरजी ने मोहासक्ति के सन्दर्भ में दो सत्य घटनाओं का उल्लेख प्रासंगिक रूप से अपने प्रवचन में किया था, जो यहाँ उद्धृत की जाती हैं -

बन्दर मादा, अपने बच्चे से मोह जनित प्रेम अपेक्षाकृत अधिक रखती है। एक बार एक बन्दरिया का बच्चा मर गया, तो वह अपने मृत बच्चे को छाती से चिपकाये रही।

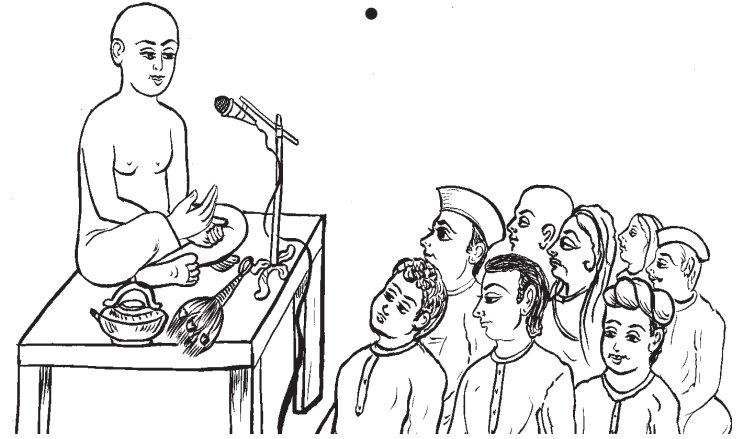
आचार्यश्री ने यह देखा कि कुछ बन्दरों ने जबरदस्ती उसके बच्चे को छीनकर नदी में विसर्जित कर दिया।

एक दूसरी घटना ने शरीर - मोह की धारणा को कितना उजागर कर दिया एक खाली हौज में एक बंदरिया अपने बच्चे सहित कूद गई थोड़ी देर बाद उस हौज में पानी आने लगा तो उसने अपने बच्चे को डूबने से बचाने के लिए कंधे पर बिठा लिया धीरे-धीरे हौज के पानी का स्तर बढ़ने लगा तो उसकी गर्दन तक पानी आने के पूर्व तक वह उसे ऊपर उठा-उठा कर बचाती रही। लेकिन पानी और बढ़ने पर जब वह स्वयं डूबने लगी तो उसने बच्चे को पैरों के नीचे दबाया और उस पर खड़ी हो गयी।

जीवन के प्रति यह ममत्व भाव है।

उपवास जीवन के प्रति इस ममत्व भाव को मन्द करता है।

इष्ट पञ्च परमेष्ठी का स्मरण जितनी गहराई से उतरकर करेंगे शारीरिक पीड़ा दूर होकर एक अनिर्वचनीय शान्ति का अनुभव हो जायेगा।



47.

संयम की श्रेष्ठता

एक गाँव में एक मुनि महाराज अस्वस्थ हो गए। रोग की असाध्यता देखकर श्रावकों ने उन्हें यम-सल्लेखना धारण करा दी। धीरे-धीरे मुनिश्री को प्यास की वेदना सताने लगी और जब वे उस वेदना को सहन नहीं कर पाये तो पानी माँगना प्रारम्भ कर दिया। श्रावकों द्वारा जल उपलब्ध न कराने पर वे उन्हें अभिशाप और अपशब्दों की धमकी देने लगे।

पास ही के ग्राम में आचार्य शान्तिसागरजी का चातुर्मास हो रहा था। गाँव के लोग उनके पास आये और उनका मार्गदर्शन चाहा। आचार्यश्री ने श्रावकों को रात्रि विश्राम करने को कहा। दूसरे दिन प्रातःकाल ही विहार करके वे स्वयं उस गाँव में पहुँच गये और समाधि रत साधु के पास जाकर स्वयं नमोऽस्तु किया।

महान् संत आचार्यश्री शान्तिसागरजी को अपने सामने झुकते देखकर वे मुनि तो अचरज में पड़कर घबरा गये। उनके मुख से निकला - “महाराज! यह आप क्या कर रहे हैं? मैं तो आपका शिष्य हूँ। आप मेरे प्रणम्य हैं, मुझे नमन क्यों कर रहे हैं।” आचार्यश्री ने उत्तर दिया - “चिन्ता मत करो। समाधि में लगा हुआ साधु बहुत ऊँचा होता है। हमें यह ज्ञात हुआ है कि तुम्हें तृषा की बाधा है, तुम्हारे माँगने पर भी इस गाँव के लोग पानी नहीं दे रहे हैं। हम अपने कमण्डलु में प्रासुक जल लेकर

आये हैं। उठो, तुम्हें पानी पिलायेंगे।” महाराजश्री के मुख से सर्वथा अनपेक्षित शब्द सुनकर वह मुनि असमंजस में भरे हुए सहारा लेकर बैठ गए।

तब आचार्यश्री ने उन्हें सम्बोधित किया - “अरे भाई! कुछ पता है पिछले जन्म में कहाँ, किस गति में थे? उसके पहले भी कहाँ थे? इस जीव ने चौरासी लाख योनियों में से एक भी योनि अछूती नहीं छोड़ी। कभी मगर-मत्स्य हुआ तो भी नरक के अनंत दुःख भोगे। तब भी क्या तेरी प्यास बुझ पायी? वह निरन्तर बढ़ती ही रही।”

केवल संयम ही ऐसा है, जो इसके पहले प्राप्त नहीं हुआ था। इस वर्तमान पर्याय में शुभोदय से संयम का सुयोग मिला है। आज तुम्हारी देह की तृषा आत्मा की निधि को नष्ट करना चाहती है। दोनों ही उपाय तेरे सामने हैं। तुम स्वयं निर्णय करो कि तुम्हें क्या इष्ट है? देह की तृषा बुझाने के लिए जल चाहता है या आत्मा को तृप्त करने वाले संयम की रक्षा करना चाहता है? तू इन दो में से किसी एक को ही प्राप्त कर सकेगा, क्योंकि दोनों एक साथ नहीं सधेंगे। आचार्य श्री का मार्मिक सम्बोधन पूर्ण होने तक तो मुनिश्री के परिणामों में परिवर्तन आ चुका था।

गुरु चरणों का सान्निध्य पाकर वे गिरने से पहले ही संभलने का सौभाग्य पा चुके थे। पश्चाताप से विगलित हो, उनका गला भर आया। दोनों हाथ बढ़ाकर आचार्यश्री के चरण बड़ी दृढ़ता से पकड़ लिये। उनके मुख से बस एक ही वाक्य निकल सका - इन चरणों की शरण ही चाहिए, महाराज! महाराज! मुझे और कुछ भी नहीं चाहिए। जब तक यह पर्याय पूर्ण न हो जाए, इन चरणों का सान्निध्य मिलता रहे, बस इतनी

कृपा कर दीजिए। मैंने अब सब कुछ पा लिया है।

साधक के परिणामों में एक अनोखी दृढ़ता अवतरित हो गई और दूसरे दिन उत्कृष्ट सल्लेखना पूर्वक, शान्त परिणामों के साथ उन्होंने अपनी पर्याय पूरी करके सद्गति प्राप्त की।

—संत सौरभ से साभार



48.

आचार्य वीरसागर की सृष्टि कथा

- हृदय परिवर्तन से व्यक्ति का नया जन्म हो जाता है। जीवन की श्रेष्ठताएँ—भाव सृष्टि और हृदय परिवर्तन के साथ उपलब्ध हुआ करती है।

आचार्य शान्तिसागरजी के चातुर्मास काल में, दो युवक उनकी परीक्षा लेने के अभिप्राय से उनके पास आये।

आचार्यश्री के आचार-व्यवहार और चर्या आदि का अवलोकन किया। जब कोई दोष नहीं दिखा तो कुछ न कुछ तो आलोचना करनी ही थी, क्योंकि वे उसी अभिप्राय से आये थे।

एक युवक ने शास्त्र ज्ञान का सन्दर्भ देते हुए कहा—“आप तो जिनालय में ठहरे हुए हैं, जबकि दिगम्बर मुनि को शून्यागार, विमोचितावास आदि में या वन में रहना चाहिए।”

महाराज सुनकर चुप रहे। प्रेम से पूछा—“कहाँ से आये हो? भोजनादि की व्यवस्था हुई या नहीं? आगन्तुकों ने बताया कि संघ के श्रावकों ने भोजन का निमन्त्रण दे दिया है।”

तब महाराज ने पूछा—“यह सामने कौन-सा वृक्ष खड़ा है?”

“यह आम का वृक्ष है महाराज! इसे तो सभी जानते हैं।”

तब आचार्यश्री ने कहा—“उसमें से दो-चार आम तोड़कर ले

आओ, तुम्हारे भोजन के काम आयेंगे।”

“महाराज! सावन के महीने में वृक्ष पर आम कहाँ से मिलेगा? वह तो अपने ऋतु में फलता है (वैशाख-ज्येष्ठ में)।”

महाराज ने सस्मित उत्तर दिया –“भाई! तुम्हारी बात का उत्तर हो गया।” इस कलिकाल में वन- वनांतर में निवास करने वाले साधु तुम्हें कहाँ मिलेंगे। ऐसे दृढ़ संहनन वाले निर्भीक साधु तो चतुर्थकाल में ही हो सकते हैं।

युवक निरुत्तर था। आचार्यश्री की निश्छलता और साधु की विवशता, दोनों उसकी समझ में आ चुकी थी। अस्तु वह चरण स्पर्श करके वापस चला गया।

लेकिन प्रश्नकर्ता युवक भीतर से तैयारी करके पुनः लौटा और व्रत-संयम आदि ग्रहण करके संघ में सम्मिलित हो गया। कालान्तर में साधना करते हुए दिगम्बर दीक्षा ग्रहण की और संयम की कठोर साधना में निरत हो गए।

एक दिन वह योग्यतम शिष्य अपने गुरु का ही उत्तराधिकारी बनाया गया। आचार्यश्री ने स्वयं उसे अपना आचार्य पद प्रदान किया।

उन महामुनि का नाम था – आचार्य वीरसागरजी महाराज।

•

संत सौरभ से साभार

49.

दिव्य देशना के अमृत कण

आचार्यश्री शान्तिसागरजी महाराज का सम्पूर्ण जीवन अलौकिक घटनाओं का सामग्रीभूत पुञ्ज था। श्रमणों का संविधान मूलाराधना जैसे इनके चरित को देखकर लिखी गयी हो। भगवत्ता को जीवन में साकार करने वाले इस महाश्रमण ने तपस्या की अनुभूति से उपजे चिन्तन की जो आध्यात्मिक बौद्धार की, उससे कौन अभिषिक्त नहीं हुआ?

चारित्र चक्रवर्ती ग्रन्थ के सम्पूर्ण आलोड़न से कुछ अमृत कण आँखों की कोर में गुलाब जल बनकर शीतलदायी बने हैं। दिव्य देशना से मुखरित कुछ जीवनसूत्र जनकल्याणी और जीवन कल्याणी साबित हुए हैं। ऐसे मुक्ता कणों को इस बोध प्रसंग में संजोया है।

- त्यागी को रोग वैराग्य के लिए होता है और भोगी को रोग रोने के लिए होता है।
- “जैसा बोले वैसा चाले त्यांची वंदावी पाडले” जैसा बोले यदि वैसा चले तो उसके चरणों की वन्दना करनी चाहिए।
- श्वांस को रोकना समाधि नहीं है। मन का, परिवार, धनधान्य की ओर नहीं जाना तथा स्वोन्मुख बनाना समाधि है। वासना है तो पदार्थ है। अभ्यास द्वारा वासना पर विजय प्राप्त होती है।
- मौन रखने से संसार का आधा सम्बन्ध टूट जाता है और आत्मा

की शान्ति बढ़ती है।

- उपवास के द्वार मोह की मंदता होती है। **It is Fasting of the body. but teasing of the soul.**
- सम्यक्त्व के होते हुए भी जीव मोक्ष नहीं पाता। ज्ञान की स्थिति ऐसी है कि वह गंगा गये गंगादास, जमुना गये जमुनादास, के समान श्रद्धा के अनुसार रंग बदलता है। मूल्य है सम्यक्चारित्र का/इसके होने पर नियम से मोक्ष होता है।
- कर्मों के आगे भीख माँगने से कुछ नहीं होता। संयमी बनकर स्वावलम्बी जीवन से निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है।
- वीर पुरुष अपने पराक्रम द्वारा नवीन युग का निर्माण करते हैं।
- द्रव्यानुरयोग मार्ग का निश्चय कराता है। चरणानुरयोग पाँव सदृश है। मार्ग का निश्चय करके यदि पाँव न हिलाये जायें, तो लक्ष्य पर कौन पहुँच सकता है ?
- कर्मों की निर्जरा करना, मुनि जीवन का ध्येय है, मुनिपद धारण किए बिना कर्मों की निर्जरा नहीं होती है।
- पहले समयसार नहीं, आस्रव और बंध का ज्ञान कराने वाला महाग्रन्थ महाबंध होना चाहिए। बंध का ज्ञान होने से जीव पाप से बचता है। इससे कर्म की निर्जरा होता है।
- जो पापों को छोड़ता है वह पुण्यवान है। राजनीति तो यह है कि राज्य भी करे और पुण्य भी कमाये।
- समता में अहिंसा की प्रतिष्ठा है, अतः समता जैनधर्म का मूल है।

- मन्दिरों के जीर्णोद्धार के कार्य करने में द्रव्य व्यय करने से धर्म का रक्षण होगा।
- भव-भव में तुमने धोबी का काम किया है। दूसरों के कपड़े धोते रहे और अपने को निर्मल बनाने की ओर तनिक भी विचार नहीं किया।
- व्रतों का उपदेश देकर स्वर्गादि सुखों को प्राप्त कराने का हमारा ध्येय नहीं है। व्रताचरण के द्वारा देवगति को प्राप्त करके विदेह में जाकर केवली भगवान् का दर्शन करो। तुम्हें भवावलिक का बोध होगा तुम्हें केवली के दर्शन से सम्यक्त्व मिलेगा, जो मोक्ष प्राप्ति का कारण बनेगा।
- व्यवहार फूल के सदृश है। फूल के भीतर फल अंकुरित होता है। जैसे-जैसे फल बढ़ता है, वैसे-वैसे फूल संकुचित होता जाता है। फल पूर्ण वृद्धि को प्राप्त होने पर पुष्प स्वयं पृथक् हो जाता है। निश्चय फल सदृश है। जैसे-जैसे निश्चय रूपी फल बढ़ता है, वैसे-वैसे व्यवहार रूपी पुरुष स्वयं संकुचित होता जाता है। अन्त में निश्चय की पूर्णता होने पर व्यवहार स्वयं दूर हो जाता है।
- शास्त्रों में कल्याण नहीं है। वे कल्याण के पथप्रदर्शक हैं। सड़क पर खड़ा खम्भा गड़े रहने पर भी मार्गदर्शन करता है।
- तपस्या कर्मक्षय की दवाई है और अच्छी औषधि कड़वी होती है।
- गरीबी के संताप को दूर करने के लिए और दोषपूर्ण हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा अति लोभ का परित्याग करके दयामय जीवन

व्यतीत करना चाहिए।

- निकट भव्य को आत्मस्वरूप का अनुभव होता है। जिसको संसार में बहुत समय तक परिभ्रमण करना है, उसे आत्मा का अनुभव नहीं होता है। अभव्य को भी आत्मा का अनुभव नहीं होता है।
- डरपोक आदमी, हरिण और गाँव की चिड़िया अपना स्थान छोड़कर बाहर नहीं जाते हैं। वीर व्यक्ति अपना स्थान छोड़कर बाहर जाता है।
- जिन मन्दिर का काम करके व्यक्ति अगले भव के लिए अपना सुन्दर भवन अभी से बना लेता है।
- संयमी के सामने चक्रवर्ती की भी कीमत नहीं।

परिशिष्ट - 1

उग्र तपस्वी की उपवास साधना

नाम व्रत	उपवासों की संख्या
चारित्र शुद्धि व्रत	1234
तीस चौबीसी व्रत	720
कर्मदहन व्रत (तीन बार)	468
सिंह निष्क्रीडित व्रत (तीन बार)	270
सोलहकारण व्रत (सोलह बार)	256
श्रुत पञ्चमी व्रत	36
विहरमान व्रत (20 तीर्थकर व्रत)	20
दशलक्षण पर्व	10
सिद्धों के आठ व्रत	08
अष्टाह्निका व्रत	08
गणधरों के व्रत	200
(गणधरों के 1452 उपवास होते हैं आचार्य श्री 200 ही कर पाये थे)	
अतिरिक्त व्रत	6392
कुल व्रतों में उपवासों का योग	9602

4, 5, 6, 7, 8, 9, 10 एवं 16 दिन के लगातार उपवास क्रमशः 6, 6, 6, 6, 7, 6, 1 एवं 3 बार करके कुल 300 एवं अन्तिम 36 दिन के यम सल्लेखना व्रत के 36 उपवास स्वर्गवास पर्यन्त तक करके कुल उपवास 336 (अतिरिक्त) इस प्रकार कुल उपवासों का कुल योग (9602+336) 9938 (नौ हजार नौ सौ अड़तीस) है।

आचार्यश्री ने सन् 1920 में निर्ग्रन्थ मुनि दीक्षा ली थी। उस समय से लेकर 1955 तक 35 वर्षों में 9938 दिन के उपवास किए। अर्थात् 27 वर्ष, 3 माह, 23 दिन के उपवास किए जो उनकी विशिष्ट आत्मशक्ति का द्योतक है।



परिशिष्ट - 2 अन्तिम अमर संदेश

ॐ जिनाय नमः। ॐ सिद्धाय नमः। ॐ अर्हं सिद्धाय नमः।
भरत ऐरावत-क्षेत्रस्थ-भूत भविष्य वर्तमान तीस चौबीसी भगवान् नमो नमः। सीमन्धरादि बीस विहरमान तीर्थङ्कर भगवान् नमो नमः। ऋषभादि महावीरपर्यंत चौदह सौ बावन गणधरदेवेभ्यो नमो नमः। चौंसठ ऋद्धिधारी मुनीश्वराय नमो नमः। अंतकृतकेवली मुनीश्वराय नमो नमः। प्रत्येक तीर्थङ्कर के समय होने वाले दश-दश घोरोपसर्गविजयो मुनीश्वराय नमो नमः।

ग्यारह अंग चौदह पूर्व शास्त्र महासमुद्र है। उसका वर्णन करने वाला आज कोई श्रुतकेवली नहीं है। मुझ सरीखा क्षुद्र मनुष्य क्या वर्णन कर सकता है ? यह सर्व जीवों का कल्याण करने वाला है। जिनवाणी सरस्वती देवी अनन्त समुद्र प्रमाण है, फिर उसमें जिनधर्म को जो धारण करेगा, उसका कल्याण अवश्य होता है। अनन्त सुख को प्राप्त कर वह मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेता है। एक मात्र ॐ अक्षर को जो धारण करता है, उस जीव का कल्याण होता है। सम्मेदशिखर में दो बन्दर लड़ते थे। णमोकार मन्त्र के प्रभाव से एक बन्दर स्वर्ग गया। श्रेष्ठी सुदर्शन ने बैल को उपदेश दिया, वह स्वर्ग गया। अंजनचोर को णमोकार मन्त्र के प्रभाव से उच्चगति प्राप्त हुई। महानीच जाति के जीव कुत्ता को जीवंधरकुमार ने उपदेश दिया, वह भी देवगति में गया। इतनी महिमा

जिनधर्म की है। परन्तु इसे कोई धारण नहीं करता है।

जैनी होकर भी जिनधर्म का विश्वास नहीं। अनन्त काल से जीव पुद्गल दोनों भिन्न-भिन्न हैं, यह सब जगत् जानता है, परन्तु विश्वास नहीं करते। पुद्गल अलग है और जीव अलग है। दोनों ही भिन्न-भिन्न होते हुए अपने जीव है या पुद्गल, इसका विचार करना चाहिए। अपन तो जीव हैं, पुद्गल नहीं। पुद्गल अलग है। जड़ है। उसमें ज्ञान नहीं है। दर्शन चैतन्य यह गुण जीव में है, स्पर्श, रस, वर्ण, गंध यह पुद्गल में है। दोनों का गुणधर्म अलग है और दोनों अलग-अलग हैं।

अपने जीव हैं या पुद्गल? अपने जीव हैं। पुद्गल के पक्ष में पड़ने के कारण अपने को इस मोहनीय कर्म ने अपने जाल में फँसा लिया है। मोहनीय कर्म जीव का घात करता है। पुद्गल के पक्ष में पड़े तो जीव का घात होता है और जीव के पक्ष में पड़े तो पुद्गल का घात होता है। अपन तो जीव हैं इसलिए जीव का कल्याण होना, जीव को अनन्त सुख में पहुँचाना, मोक्ष को जाना, यह सब जीव में होता है। पुद्गल मोक्ष में नहीं जाता है।

इतना समझने पर भी यह सब जग भूल भटक रहा है, पंच पापों में पड़ा हुआ है। दर्शनमोहनीय कर्म के उदय ने सम्यक्त्व का घात किया है; चारित्र मोहनीय कर्म के उदय ने संयम को घात किया है। इस प्रकार दोनों ने अनन्तकाल से जीव का घात किया है। फिर अपने को क्या करना चाहिए?

आदेश और उपदेश

सुख प्राप्ति जिसको करने की इच्छा हो, उस जीव को हमारा

आदेश है कि दर्शनमोहनीय का नाश करके सम्यक्त्व प्राप्त करो। चारित्रमोहनीय का नाश करो, संयम को धारण करो। इन दोनों मोहनीय कर्मों का नाश कर अपना आत्मकल्याण करो। यह हमारा उपदेश है।

अनन्तकाल से यह जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है। किस कारण से? एक मिथ्यात्व कर्म के उदय से। अपना कल्याण किससे होगा? इस मिथ्यात्व कर्म के नाश से। अतः उसका नाश अवश्य करना चाहिए और सम्यक्त्व प्राप्त करना चाहिए।

सम्यक्त्व किसे कहते हैं, इसका कुन्दकुन्दस्वामी ने समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड में और गोम्मटसारादि बड़े-बड़े ग्रन्थों में वर्णन किया गया है। इस पर कौन श्रद्धा रखता है? अपना आत्मकल्याण करने वाला ही रखेगा। जीव संसार में भ्रमण करता आ रहा है। यह हमारा आदेश है, उपदेश है। ॐ सिद्धाय नमः।

कर्तव्य

फिर आपको क्या करना चाहिए? दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय करना चाहिए। किससे उसका क्षय होता है? एक आत्मचिन्तन से होता है। कर्मनिर्जरा किससे होती है? आत्मचिन्तन से होती है। तीर्थयात्रा करने पर पुण्यबंध होता है। प्रत्येक धर्म कार्य करने पर पुण्यबंध होता है।

आत्मचिन्तन

कर्मनिर्जरा होने के लिए आत्मचिन्तन साधन है। अनन्त कर्मों की निर्जरा के लिए आत्मचिन्तन ही साधन है। आत्मचिन्तन किए बिना कर्मों की निर्जरा होती नहीं। केवलज्ञान होता नहीं, केवलज्ञान के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है।

फिर अपने को क्या करना चाहिए? चौबीस घण्टों में छह घड़ी उत्कृष्ट कही गई है। चार घड़ी मध्यम कही गई है और दो घड़ी जघन्य कही गई है। जितना समय मिले उतने समय आत्म चिन्तन करो। कम से कम 10-15 मिनट तो करो। हमारा कहना है कि कम से कम पाँच मिनट तो करें। आत्मचिन्तन किए बिना सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता है। सम्यक्त्व के बिना कर्मों का संसार बंधन टूटता नहीं। जन्म-जरा-मरण छूटता नहीं। सम्यक्त्व प्राप्त कर संयम के पीछे लगना चाहिए। यह चारित्र मोहनीय कर्म का उदय है कि सम्यक्त्व होकर जीव 66 सागर तक रहता है और मोक्ष नहीं होता। क्यों? चारित्र मोहनीय कर्म के उदय होने से।

संयम-पालन

चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय करने के लिए संयम को धारण करना चाहिए। संयम के बिना चारित्रमोहनीय कर्म का नाश नहीं होता! इसलिए यह संयम कैसा भी हो, परन्तु संयम धारण करना चाहिए। डरो मत। संयम धारण किये बिना सातवाँ गुणस्थान नहीं होता है। सातवें गुणस्थान के बिना आत्मानुभव नहीं होता। आत्मानुभव के बिना कर्मों की निर्जरा नहीं होती। कर्मों की निर्जरा के बिना केवलज्ञान नहीं होता। ॐ सिद्धाय नमः।

समाधि

निर्विकल्प समाधि, सविकल्प समाधि, इस प्रकार समाधि के दो भेद कहे गये हैं। कपड़ों में रहने वाले गृहस्थ सविकल्प समाधि करेंगे। मुनियों के सिवाय निर्विकल्प समाधि होती नहीं है। वस्त्र छोड़े बिना मुनिपद नहीं होता। भाइयों, डरो मत, मुनिपद धारण करो। यथार्थ

संयम हुए बिना निर्विकल्प समाधि नहीं होती है। इस प्रकार समयसार में कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है। आत्मानुभव के बिना सम्यक्त्व नहीं होता। व्यवहार सम्यक्त्व को उपचार कहा है। यह यथार्थ सम्यक्त्व नहीं है, यह साधन है। जिस प्रकार फल आने के लिए फूल कारण है, उसी प्रकार व्यवहार सम्यक्त्व कहा है।

यथार्थ सम्यक्त्व कब होता है? आत्मानुभव होने के बाद होता है। आत्मानुभव कब होता है? निर्विकल्प समाधि होने पर होता है। निर्विकल्प समाधि कब होती है? मुनिपद धारण करने पर ही होती है।

निर्विकल्प समाधि का प्रारम्भ कब होता है? सातवें गुणस्थान से प्रारम्भ होता है और बारहवें गुणस्थान में पूर्ण होता है; तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान होता है, इस प्रकार नियम है। शास्त्रों में ऐसा लिखा है। इसलिए डरो मत। संयम धारण करो, सम्यक्त्व धारण करो, ये आपके कल्याण करने वाले हैं। इनके सिवाय कल्याण होता नहीं। संयम के बिना कल्याण नहीं होता है। आत्मचिन्तन के बिना कल्याण नहीं होता है।

पुद्गल और जीव अलग-अलग हैं, यह पक्का समझना है। तुमने साधारण रूप से समझा है, यथार्थ तत्त्व अभी समझ में आया नहीं। यथार्थ समझ में आया तो इस पुद्गल के मोह में तुम क्यों पड़ते ? संसार में बाल बच्चे, भाई-बन्धु, माता-पिता, ये सब पुद्गल के सम्बन्ध से होने वाले हैं। जीव के सम्बन्ध वाले कोई नहीं। देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये छह क्रियायें कहीं गई हैं। असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, विद्या ये छह आरम्भ कहे गये हैं। इन छह आरम्भजनित दोषों को क्षय करने के लिए छह कर्म करने की आवश्यकता है। यह व्यवहार हुआ। उससे यथार्थ में मोक्ष नहीं होता मात्र ऐहिक सुख मिलेगा,

पंचेन्द्रिय सुख मिलेगा परन्तु मोक्ष नहीं मिलेगा। मोक्ष किससे मिलता है? मोक्ष केवल आत्मचिन्तन से ही मिलता है। बाकी किसी किसी भी कर्म से, क्रिया से, कार्य से और किसी कारण से मोक्ष नहीं मिलता।

जिनवाणी पर श्रद्धा

नय, शास्त्र अनुभव इन तीनों को मिलाकर विचार करो कि मोक्ष किससे मिलता? बाकी सब रहने दो। अपना अनुभव क्या? भगवान् की वाणी के सामने उसका कोई मूल्य नहीं है। वाणी सत्य है। उस वाणी पर पूर्ण विश्वास रखना चाहिए। उस वाणी के एक शब्द सुनने पर एक शब्द से ही जीव तिर कर मुक्ति को जायेगा, ऐसा नियम है।

सत्य वाणी कौन-सी है? एक आत्मचिन्तन। आत्मचिन्तन से सर्व कार्य सिद्ध होने वाले हैं। उसके सिवाय कुछ भी नहीं। अरे भाई! बाकी कोई भी क्रिया करने पर पुण्य बंध पड़ता है, स्वर्ग सुख मिलता है, संपत्ति, संतति, धनवान, स्वर्ग-सुख यह सब होते हैं, पर मोक्ष नहीं मिलता है। मोक्ष मिलने के लिए केवल आत्म चिन्तन है तो वह कार्य करना चाहिए। उसके बिना सद्गति नहीं होती, यह क्रिया करनी चाहिए।

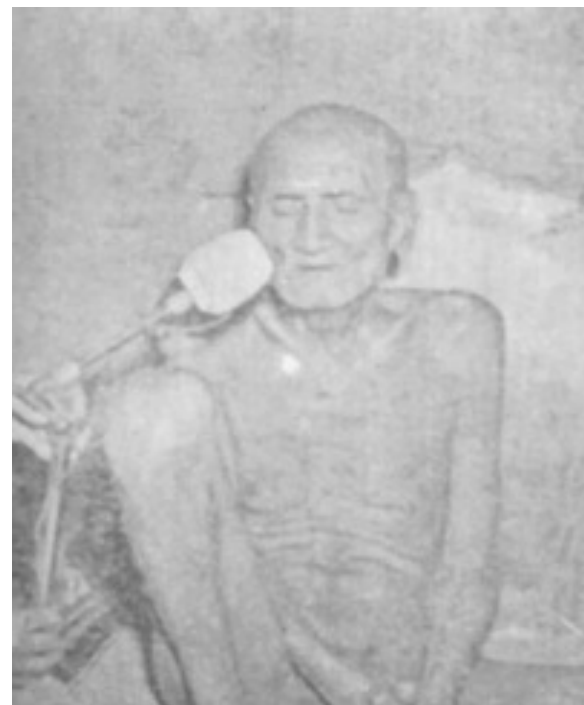
सारांश :

“धर्मस्य मूलं दया”। जिनधर्म का मूल क्या है? सत्य, अहिंसा। मुख से सभी सत्य, अहिंसा बोलते हैं, पालते नहीं। रसोई करो, भोजन करो। ऐसा कहने से क्या पेट भरेगा? क्रिया किए बिना, भोजन किए बिना पेट नहीं भरता है बाबा। इसलिए क्रिया करने की आवश्यकता है। क्रिया करनी चाहिए, तब अपना कार्य सिद्ध होता है।

सब कार्य छोड़ो। सत्य, अहिंसा का पालन करो। सत्य में

सम्यक्त्व आ जाता है। अहिंसा में किसी जीव को दुःख नहीं दिया जाता। अतः संयम होता है वह व्यावहारिक बात है। इस व्यवहार का पालन करो। सम्यक्त्व धारण करो, संयम धारण करो, तब आपका कल्याण होगा। इसके बिना कल्याण नहीं होगा।

(दि. 7.9.1955 समय 5:10-5:32 तक संध्या)



परिशिष्ट - 3

लोकोत्तर साधक शब्दकोश

1. **उपाध्याय** - दक्षिण भारत में पूजा आदि कार्य के लिए नियुक्त व्यक्ति।
2. **पड़गाहन** - जैन मुनि की आहार चर्या हेतु श्रावकों द्वारा की जाने वाली प्रक्रिया, आमंत्रण विधि।
3. **सल्लेखना** - व्रतों की सुरक्षा के लिए, कषाय तथा अयोग्य रोगी, वृद्ध देह का त्याग करना।
4. **उपसर्ग** - देव, मनुष्य, तिर्यञ्च तथा प्रकृतिकृत उपद्रव।
5. **समता** - शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ में सहज, साम्य परिणाम का होना। हर्ष-विषाद नहीं होना।
6. **कर्म निर्जरा** - आत्मा से एक देश (थोड़ा-थोड़ा) कर्मों का झड़ना।
7. **महाव्रती** - हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह पाप का पूर्ण त्याग करने वाले महापुरुष मुनि।
8. **श्रमण** - दिगम्बर जैन मुनि।
9. **समता** - पाँच इन्द्रिय और मन की स्वच्छन्दता को रोकने का भाव।

10. **भेद-विज्ञान** - आत्मा और शरीर की भिन्नता का बोध।
11. **विदेह** - देह से रहित सिद्ध अवस्था।
12. **सिद्ध भगवान्** - ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित अशरीरी परमात्मा।
13. **रत्नत्रय** - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र।
14. **सम्यक्चारित्र** - अशुभ मन, वचन, काय की क्रियाओं का त्याग एवं शुभ मन, वचन, काय में प्रवृत्ति अथवा आत्म स्वरूप में लीनता।
15. **अव्रती** - जिसने पाँच पापों का त्याग नहीं किया हो।
16. **आगम** - तीर्थकरों द्वारा दिया गया ज्ञान अथवा उपदेश।
17. **पर्युषण पर्व** - दस दिनों तक मनाया जाने वाला दशलक्षण पर्व, इन दिनों विशेष पूजा, व्रत-उपवास आदि किये जाते हैं।
18. **विदेह क्षेत्र** - ऐसा स्थान जहाँ से हमेशा जीव मोक्ष लाभ मुक्ति प्राप्त करते रहते हैं।
19. **सीमंधर स्वामी** - एक तीर्थकर विदेह क्षेत्र में विराजित।
20. **क्षायिक सम्यक्त्व** - कभी नष्ट न होने वाली श्रद्धा।
21. **मोह** - आसक्ति का परिणाम।
22. **राग-द्वेष** - किसी वस्तु के प्रति अच्छे-बुरे का भाव।

